रवीन्द्र-साहित्य

तेरहवाँ भाग

अनुवादक
धन्यकुमार जैन

पद्यानुवादक
श्यामसुन्दर खत्री

हिन्दी-ग्रन्थागार
पी-१५, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता - ७

इस भागकी रचनाएँ

मूल्य २।) सवा दो रुपया

प्रकाशक

धन्यकुमार जैन

हिन्दी-ग्रन्थागार

पी-१५, कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता - ७

मुद्रक—निवारणचन्द्र दास, प्रवासी प्रेस

१२०।२, अपर सरकुलर रोड, कलकत्ता

1979

अकारादिक्रमिक सूची

[भाग १ से १३ तक]

उपन्यास

नाटक

कविता

निबन्ध

कर्ण-कुन्ती-संवाद

कर्ण— पुण्यतोया जाह्नवीके तीर मैं सभक्ति चित्त
सांध्य सविताकी अभिवन्दनामें हूँ प्रवृत्त।
राधा मेरी माता, पिता अधिरथ जन्मदाता,
कर्ण है मेरा ही नाम। तुम कौन, कहो माता?

कुन्ती— प्रथम प्रभात तव जीवनका लानेवाली,
वत्स, तव परिचय विश्वसे करानेवाली
यही रमणी है। तजकर सब कुल-लाज,
वत्स, निज परिचय देने तुम्हें आई आज।

कर्ण— देवी, तव नत-नेत्र - किरण - सम्पात - द्वारा
विचलित होता चित्त, रविकराघात - द्वारा
होता जैसे द्रवित तुषार। तव कण्ठस्वर
मानो पूर्वजन्म - ज्ञात, कानोंमें प्रवेश कर
मुझमें अपूर्व वेदनाएँ जगा रहा। अहो,
कौन-सी रहस्य-डोर, हे अपरिचिते, कहो
मेरा जन्म बाँधती तुम्हारे साथ?

कुन्ती— क्षण भर
धीर धरो, वत्स; अस्त हो लें देव दिनकर।
संध्याकी तिमिरराशि घनीभूत औ' गभीर
हो लेने दो जरा और। कहती हूँ, सुनो वीर,
कुन्ती हूँ मैं।

कर्ण— तुम कुन्ती, अर्जुनकी तुम्हीं माता!

कुन्ती— अर्जुनकी मैं ही माता। सोचकर यह नाता
करना विद्वेष नहीं। याद आता रह-रह
हस्तिनापुरीमें अस्त्र-परीक्षाका दिन वह।

तरुण कुमार तुम पैठे रंगशालामें यों
धीरे धीरे, तारका-खचित प्राची प्रान्तमें ज्यों
उदय हो बालारुण। नारियाँ अनेकानेक
बैठी थीं यवनिकाकी ओटमें। उन्हींमें एक
कौन थी अभागी जिसके कि जीर्ण वक्षपर
सहस्र अतृप्त स्नेह-क्षुधा - रूपी विषधर
लोटते थे! करती थीं किसकी सस्नेह दृष्टि
तव अंग-अंगपर आशिष-चुम्बन वृष्टि?
वह नारी अर्जुनकी जननी थी। उस ठौर
जब पूछा कृपने पिताका तव नाम, और
कहा, 'राजवंशजात तुम, हे कुमार, नहीं,
अर्जुनसे युद्धका तुम्हें है अधिकार नहीं',—
आरक्त-आनत-मुख तुम खड़े रहे मौन;
जानते हो, उस लज्जा-आभाकी ज्वालासे कौन
भाग्यहीना हुई थी विदग्ध-उर उस क्षण?
जननी थी अर्जुनकी। धन्य पुत्र दुर्योधन!
उसने तत्काल तुम्हें सौंप अंग-राज्य स्वीय
तव अभिषेक किया। कार्य था प्रशंसनीय!
मेरी दोनों आँखोंसे दुधारा आँसू बहकर
तुम्हें लक्ष्य कर हुए उच्छ्वसित शीशपर
अभिषेकके ही साथ। भीड़में निकाल पथ
उसी दम आये वहाँ वृद्ध सूत अधिरथ
आनन्द-विह्वल-चित्त। चारों ओर एकत्रित
समुत्सुक जनतामें राजभूषा - अलंकृत
अभिषेक - सिक्त शीश रख सूत-पदोंपर
उनको प्रणाम किया 'पिता' सम्बोधन कर।
पाण्डवोंके बन्धुओंने यह सब देखकर

क्रूर हँसी हँसके धिक्कारा तुम्हें वहाँ, पर
जिसने सगर्व था असीसा वीर कहकर
वही मैं हूँ अर्जुनकी जननी, हे वीरवर!

कर्ण— तुमको प्रणाम, आर्ये! राजमाता, एकाकिनी
तुम यहाँ कैसे? यह रणभूमि संहारिणी,
मैं हूँ कुरु-सेनापति।

कुन्ती— तुमसे है एक भिक्षा।
विमुख न करो, पुत्र।

कर्ण— मुझसे भिक्षाकी इच्छा!
पौरुष-व्यतीत और धर्म-विपरीत छोड़,
जो कहोगी रख दूँगा चरणोंमें, हाथ जोड़।

कुन्ती— आई हूँ मैं लेने तुम्हें।

कर्ण— कहाँ ले जाओगी, कहो।

कुन्ती— तृषित हृदय मातृ-क्रोड़में लहूँगी, अहो!

कर्ण— पाँच पुत्रोंवाली तुम भाग्यवती माता धन्य,
मैं तो कुलशील-हीन एक नृप हूं नगण्य,
मुझे कहाँ दोगी स्थान?

कुन्ती— मैं दूंगी सर्वोच्च स्थान,
पाँचों तनयोंके आगे तुमको मैं दूँगी मान,
तुम्हीं मेरे ज्येष्ठ पुत्र।

कर्ण— किस अधिकार द्वारा
करूँगा प्रवेश वहाँ? साम्राज्य-विभव सारा
जिनका हरण हुआ, पूर्ण मातृस्नेह-धन
उनका ही बाँट लूँ मैं कैसे कहो स्वार्थी बन?
माताका हृदय यह, धनसे न होता क्रय,
बाहुबलसे भी नहीं इसे किया जाता जय,
यह विधाताका दान।

कुन्ती— मेरे बेटा, मेरे लाल,
लेके अधिकार विधाताका वही स्नेह-जाल
एक दिन आये मेरी गोदमें थे। निर्विचार
उसी अधिकारसे ही गौरवित पुनर्वार
आओ। भाइयोंके बीच मातृ-अंकमें ही मम
स्थान निज लहो तुम।

कर्ण— सुनता हूँ स्वप्न-सम
हे देवी, तुम्हारी वाणी। देखो, अन्धकार घोर
व्याप्त दिग्दिगन्तमें है, लुप्त दृश्य सभी ओर,
नीरव है भागीरथी। मुझे ले गई हो खींच
किस मायालोक, किस विस्मृत पुरीके बीच
चेतना - प्रत्यूषमें ? पुरातन सुसत्य - सम
तव वाणी स्पर्श कर रही मुग्ध चित्त मम।
लगता है, मानो मेरा अस्फुट शैशव-काल,
मानो मेरी जननीके गर्भका तमिस्रा-जाल
घेर रहा मुझे आज। अयि राजमाता, आओ,
सत्य हो या स्वप्न ही हो, आओ स्नेहमयी, लाओ
दक्षिण स्व-हस्त धरो भाल औ' चिबुकपर
क्षणभर। जाना मैंने लोगोंसे ही सुनकर,
निज माका त्यागा-हुआ पुत्र हूँ मैं। बहुबार
देखा नैश स्वप्नमें कि मेरी माता दया धार
धीरे-धीरे आई मुझे देखने द्रवित होके,
कातर व्यथित मैंने ज्यों ही की विनय रोके,
'खोलो अवगुण्ठन, मैं देखूं मा, तुम्हारा मुख',
त्यों ही मूर्ति लुप्त हुई छिन्न कर स्वप्न-सुख
तृषार्त उत्सुक। वही स्वप्न सत्य बनकर
आया है क्या पाण्डवोंकी जननीका रूप धर

आज संध्या बेला रणभूमिमें गंगाके तीर ?
देखो, देवी, उस पार दीप जले तम चीर
पाण्डवोंके शिविरमें। सन्निकट इस पार
ध्वनित है कर रहा कौरवोंका अश्वागार
लक्ष अश्व खुर-शब्द। होगा कलका प्रभात
साथ लिये महायुद्धका आरम्भ। आज रात
अर्जुनकी जननीके कण्ठसे क्यों मुग्धकर
सुन पड़ा मुझे निज जननीका स्नेह-स्वर ?
रसनामें मेरा नाम मधुर संगीत बन
झंकृत हो उठा क्यों हठात् ? तभी मेरा मन
पाण्डवोंकी ओर उन्हें भ्राता मान दौड़ रहा।

कुन्ती— तब तो, हे वत्स, आओ, चलो, मान मेरा कहा।

कर्ण— मा, चलूँगा, मुझको न कुछ पूछना है और,
द्विधाका या सोचने-विचारनेका है न ठौर,
देवी, तुम माता मेरी। पाके तव स्नेहाह्वान
अन्तरात्मा जाग उठी। सुनते न मेरे कान
रणभेरी, जयशंख। मिथ्या होती है प्रतीत
रणहिंसा-नीति, वीर-ख्याति और हार-जीत।
कहाँ ले चलोगी, चलो।

कुन्ती— बस, उस पार, वहाँ
स्तब्ध स्कन्धावारमें, हैं दीप जल रहे जहाँ
पाण्डुर सैकत तीर।

कर्ण— वहाँ मातृहीन नर
चिरदिन माका प्यार पायेगा, औ' सुखकर
ध्रुवतारा चिररात्रि तव मंजु अत्युदार
नेत्रोंमें जागेगा। देवी, फिर कहो एक बार
पुत्र मैं तुम्हारा ही हूँ।

कुन्ती— लाल मेरे !

कर्ण— तो क्यों कहो

दूर फेंक दिया मुझे जगमें अज्ञात, अहो,
कुल-शील-मान - हीन मातृ - नेत्रसे विहीन
अन्ध अनादृत कर सब भाँति बना दीन ?
क्यों अवज्ञा-स्रोतमें सदाको मुझे बहा दिया ?
मेरे भ्रातृ-कुलसे निर्वासित क्यों मुझे किया ?
मुझे रखा अर्जुनसे तुमने विच्छिन्न कर,
आशैशव खींच रहा इसीसे दोनोंको धर
दुर्गम अदृश्य पाश द्वेष ही का रूप धर
अटल आकर्षणसे। माता, तुम निरुत्तर ?
लज्जा तव भेदकर अन्धकार - स्तर घन
स्पर्श कर रही मेरा सर्वाङ्ग नीरव बन,
आँखें नीची हुई जातीं। अच्छा तो, जाने दो यह,
मुझे त्यागनेका हेतु क्या था, मत कहो। वह
मातृस्नेह विधिका प्रथम दान विश्व-बीच,
अपनी सन्तानसे ही वह दैवी धन खींच
हरण किया क्यों -- इस बातका उत्तर अब
नहीं चाहता हूँ। कहो, छोड़ अन्य बातें सब,
आई क्यों हो गोदमें देनेको फिर मुझे स्थान ?

कुन्ती— भर्त्सना तुम्हारी, वत्स, शत वज्रके समान
कर दे विदीर्ण मेरा उर कर खण्ड-खण्ड।
त्याग था तुम्हारा किया, इसीका है मिला दण्ड,—
पाँच-पाँच पुत्रोंसे जुड़ाती हुई निज छाती
जान रही अपनेको पुत्रहीन ! अकुलाती
बाँहें मेरी फैलतीं तुम्हारे लिए विचलित,
जगमें तुम्हींको खोजा करती हैं, हाय, नित।

त्यक्त सुत हेतु दीप्त उर दीप बालकर
स्वतः दग्ध होके विश्वदेवताकी लोकोत्तर
आरती उतारता है। अहोभाग्य आज मेरे,
तुमसे मिली हूं आके। जब मुंहमें न तेरे
फूटी एक वाणी तभी कठिन कठोरतर
मैंने अपराध किया। उस मुंहसे ही कर,
बेटा, कुमाताको क्षमा। वही क्षमा मेरे लिए
भर्त्सनासे वह धधका दे ऐसी ज्वाला हिये,
पापको जो भस्म कर मुझको करे पुनीत।

कर्ण— पद रज दे, मां, मुझे कर दो अनुगृहीत।
श्रद्धा-अश्रु स्वीकृत हो।

कुन्ती— आई नहीं तव द्वार
इस सुख-आशासे कि तुम्हें, वत्स, कर प्यार
छातीसे मैं लगा लूँगी। स्वाधिकार-बलपर
लौट चलो। आई हूँ मैं यही सुनिश्चय कर।
तुम सूत-पुत्र नहीं, राजाकी सन्तान तुम।
दूर कर हृदयसे सर्व अपमान तुम,
चलो, वत्स, मेरे सँग जहाँ तव पाँचो भ्राता।

कर्ण— माता, मैं तो सूत-पुत्र, राधा ही है मेरी माता,
गौरव इसीमें मेरा। जिनका जो मान, लहें ;
पाण्डव पाण्डव रहें, कौरव कौरव रहें,
किसीसे न ईर्ष्या मुझे।

कुन्ती— राज्य अधिकार करो,
बाहुबलसे ही स्वीय वस्तुका उद्धार करो।
व्यजन डुलायेंगे युधिष्ठिर समर-धीर,
होंगे छत्रधर भीम, सारथि अर्जुन वीर,

1979

धौम्य - से पुरोहित करेंगे वेदगान नित
पुण्यमय, वत्स, तुम होंगे धन्य शत्रुजित,
परम प्रतापी भ्रातृ-वर्ग संग शत्रुहीन
आसमुद्र साम्राज्यमें रत्न-सिंहासनासीन।

कर्ण— सिंहासन ! जिसने लौटाया मातृस्नेह-धन
उसको ही राज्यका देती हो, माता, आश्वासन !
जिस सम्पदाको, देवी, एक दिन लिया छीन
उसे अब फेरना तुम्हारे न सामर्थ्याधीन।
मेरी माता, मेरा उच्च राजवंश, मेरे भ्राता,
एक ही मुहूर्तमें निर्मूल इन्हें किया, माता,
मेरे जन्म लेते। सूत-जननीको छल आज
राज-जननीको यदि 'माता' कहूँ तज लाज,
जिन बन्धनोंसे कुरुपतिसे हूँ विजड़ित,
तोड़ उन्हें धाऊँ यदि राज-सिंहासन हित,
तो सौ-सौ धिक्कार मुझे।

कुन्ती— वीर, तू है पुत्र मेरा,
धन्य है तू। हाय धर्म, कैसा है कठोर तेरा
दण्ड यह ! उस दिन कौन जानता था, हाय,
तज रही जिस क्षुद्र शिशुको मैं असहाय,
एक दिन बनके सामर्थ्यवान वही फिर
आयेगा घनान्धकार - पथसे उठाये सिर,
क्रूर हो चलायेगा सशस्त्र अपना ही कर
अपनी ही जननीकी गर्भज सन्तानोंपर !
कैसा अभिशाप यह !

कर्ण— माता, मत करो भय।
कहता हूँ, पाण्डवोंकी रणमें होवेगी जय।

आज इस रजनीके तिमिर - फलक पर
तारोंके प्रकाशमें प्रत्यक्ष होता दृग्गोचर
मुझे घोर युद्ध-फल। इस स्तब्ध शब्दहीन
क्षणमें अनन्त नीलाकाशसे विचारलीन
मनमें प्रवेश मेरे कर रहा एक क्षीण
जयहीन चेष्टाका संगीत, एक आशाहीन
कर्मोद्यम-राग। मुझे स्पष्ट आज दीख रहा
शान्तिमय शून्य परिणाम। मानो मेरा कहा,
हार जिस पक्षकी है धरी, आज तोड़ नाता
त्याग दूँ मैं उसे, ऐसी आज्ञा मत देना माता।
जयी हों, राजा हों, पायें पाण्डव-सन्तान मान,
निष्फल हताश दलवालोंमें है मेरा स्थान।
जन्म-रात्रिको ही मुझे फेंक दिया पृथ्वीपर,
माता, मुझे नाम-हीन-गृह-हीन दीन कर।
ममता-विहीन होके आज भी उसी प्रकार
रहने दो, दीप्ति-हीन, कीर्ति-हीन, अनुदार
गर्तमें पराभवके छोड़ मुझे अविषाद।
मुझे बस देती जाओ आज यही आशीर्वाद—
जय-लोभ, यशोलोभ, राज्य-लोभ हेतु कहीं
वीरकी सद्गतिसे, हे माता, भ्रष्ट होऊँ नहीं।

देवताका ग्रास

गाँव-गाँव घर-घर फैल गया समाचार
मैत्र महाशय गंगा - सागरको इस बार
स्नान हेतु जा रहे हैं। बाल-वृद्ध नारी - नर
साथ जानेवाले सब जुड़े आके घाटपर
नावें दो लगी थीं जहाँ।

पुण्य-प्राप्ति-लोभवश
मोक्षदाने आके कहा, "बाबा, तुम्हें होगा यश
ले चलो मुझे भी संग।" युवती बिचारी वह
विधवा थी, करुण दृगोंमें अनुनय - सह
प्रार्थना थी ; युक्ति तर्कसे न सरोकार रहा ;
अतः बात टाल देना कठिन व्यापार रहा।
मैत्र बोले, "अब और जगह कहाँ है कहो?"
रोके कहा विधवाने, "पैर पड़ती हूँ अहो,
बैठ लूंगी एक ओर।" विप्रका पसीजा मन
किन्तु पड़ दुबिधामें, पूछा फिर उसी क्षण,
"रहेगा तुम्हारे बिना बालक अबोध कहाँ?"
बोली वह, "गोपाल? हाँ, रहेगा मासीके यहाँ।
उसके जन्मोपरान्त रोगसे मैं रही ग्रस्त,
दीर्घ काल तक रही जीवनकी आशा अस्त ;
निज शिशु-संग उसे अन्नदाने स्तन्य दिया,
लाड़-प्यार कर उसे पाल-पोस बड़ा किया।
मासीका दुलारा वह मासीको ही जानता है,
बड़ा ही जबर ढीठ, किसीकी न मानता है।
डाँटती-डपटती हूँ, दौड़ी हुई मासी आती,
खींच उसे छातीसे लगाती, आँखें भर लाती।

मेरे बिना सुखसे रहेगा ममतामें पगा,
मासे वह स्नेहमयी मालीके कहने लगा।"

राजी हुए विप्रवर। मोक्षदाने लौट फिर
बाँधा-जूड़ी शेष की औ' बड़ोंको नवाया सिर।
अश्रु-नीर - भीगी सखियोंसे विदा प्राप्त कर,
हो गई तयार वह और आई घाटपर।
चकित हो गई, देख, नावपर यह कौन!
बैठा था गोपाल वहाँ नीरव, निश्चिन्त मौन।

"क्यों रे, तू यहाँ क्यों आया?" माने पूछा डाँटकर।
बालकने कहा, "मैं भी जाऊँगा गंगा-सागर।"
"जायगा गंगासागर? अरे छोकरे तू, नीच,
उतर वहाँसे।" वह पुनः दृढ़ आँखें मीच
बोला बस दो ही शब्द, "जाऊँगा गंगा-सागर।"

कितना ही माने उसे खींचा हाथ धरकर
वह नाव पकड़े ही बैठा रहा। हँसकर
अन्तमें दया औ' स्नेहवश बोले विप्रवर,
"छोड़ो, चलने दो संग।" माताने सरोष कहा,
"चल, ढीठ, सागरमें डाल तुझे दूँगी बहा।"
किन्तु ज्योंही शब्द निज कानोंमें जा बजे, आह,
अनुताप - तप्त माका हृदय उठा कराह।
आँखें बन्द कर राम-नामका स्मरण किया,
बालकको उसने सप्रेम गोदमें ले लिया,
और फिर करुण कल्याणकारी निज कर
पुत्र - वत्सलाने फेरा पुत्रके शरीरपर।
मैत्र बोले मोक्षदासे, पास उसे बुलाकर,
"छिः, ऐसी अशुभ बात लाते नहीं मुँहपर।"

माके साथ जाना यों गोपालका भी हुआ स्थिर ।
लोगोंकी जबानी सुनी अन्नदाने बात फिर ।
दौड़ी हुई आई, बोली, "जाता है, अरे, तू कहाँ !"
"जाता हूँ गंगा-सागर, मासी, मैं हो आऊँ वहाँ ;
लौटके मिलूँगा फिर ।" – उसका जवाब रहा ।
पागल-सी अन्नदाने मैत्रको पुकार कहा,
"बड़ा ही जबर है गोपाल, मेरा प्राण-धन,
कौन सम्हालेगा इसे ? जन्म ही से एक क्षण
मासी बिना इसका गुजारा हुआ कहीं नहीं,
कहाँ लिये जाते इसे, अरे, रहने दो यहीं ।"
बालकने कहा, "मासी, जाऊँगा, गंगा-सागर,
लौट आके मिलूँगा मैं ।" बोले स्नेही विप्रवर,
"डरकी क्या बात, बेटी, मैं हूँ जीता जब तक,
बाल भी गोपालका न बाँका होगा तब तक ।
जाड़ोंके हैं दिन, नदी-नद शान्त सब-कहीं,
भीड़-भाड़ काफी होगी, राह खतरेकी नहीं ।
जाने-आनेमें लगेंगे, बेटी, बस दो ही मास ;
बच्चेको तुम्हारे लौटा लाऊँगा तुम्हारे पास ।"

शुभ घड़ीमें ले दुर्गा-नाम नाव चल पड़ी ।
तटपर साश्रु-दृग ग्राम-नारियाँ थीं खड़ी ।
हेमन्त - प्रभातमें नीहार - पूर्ण बनकर
छल-छल छलक रहा था ग्राम तीरपर ।

हो गया समाप्त मेला, यात्री-टोली लौट पड़ी ;
ज्वारकी आशामें नाव तीरसे बँधी थी खड़ी ।
हो चुका गोपालका था कौतूहल अवसान,
ध्यान घरमें था लगा, तड़प रहे थे प्राण

मासीकी गोदीके लिए। जल, हाँ, केवल जल
देख-देख होता था अधीर वह प्रतिपल।
मसृण चिक्कण कृष्ण कुटिल निष्ठुरतम
लोलुप लेलिह-जिह्व क्रूर महासर्प - सम
छल-मय जल उठा-उठा फण लक्ष-लक्ष
फुफकारता है, गर्जता है, फुलाता है वक्ष ;
करता है कामना औ' रहता है लालायित
मृत्तिकाके शिशुओंको लीलनेके लिए नित।

हे मृत्तिके ! स्नेहमयी, मौन, मूक वाक्यहीन,
अयि स्थिर, ध्रुव, अयि सनातन, हे प्राचीन,
हे आनन्द - धाम, सर्व उपद्रव-सहे, अहे !
श्यामल, कोमल तुम। चाहे कोई कहीं रहे
उसको अदृश्य बाहु-युगल पसार स्वीय
दिन-रात खींचा करती हो कैसे महनीय
विपुल आकर्षणसे, मुग्धे, आकांक्षा - विभोर
आदिगन्त-व्याप्त निज शान्त वक्षकी ही ओर !

चंचल बालक वह आ - आकर प्रतिक्षण
ब्राह्मणसे पूछता था, उत्सुक अधीर बन,
"कितनी है देर, कब आयेगा बताओ ज्वार ?"
आखिरको जलमें आवेगका हुआ संचार।
दोनों तट चेते इस आशाके संवादपर।
घूमी नाव, झटका रस्सेने खाया चर-मर।
कल-कल गीत गाता-हुआ गरिमा-गरिष्ठ
सिन्धुका विजय-रथ नदीमें हुआ प्रविष्ट ;
ज्वार आया। नाविकोंने इष्टदेवका ले नाम
उत्तराभिमुख नाव छोड़ी चट डाँड़े थाम।

पूछने गोपाल लगा, ब्राह्मणका हाथ धर,
"कितने लगेंगे दिन, कब पहुँचेंगे घर ?"
सूर्य अस्त हुआ नहीं, कोस दो गई थी नाव,
उत्तरी हवाका वेग बढ़ा रहा था प्रभाव।
रूपनारायण - नदी - द्वार - स्थित स्तूपाकार
बालुकाके द्वीपसे संकीर्ण थी नदीकी धार।
बाधा - रुद्ध ज्वार - स्रोत, उत्तरी पवन क्रुद्ध,
भिड़ गये, मच गया उत्ताल उद्दाम युद्ध।
चीखने लगे यों बार-बार नौकारोही वहाँ,
"ले चलो किनारे नाव।" किन्तु था किनारा कहाँ!

चारों ओर क्षिप्तोन्मत्त जल मचा हाहाकार
ताण्डव था कर रहा कोटि करों तालीसार ;
फेनिल आक्रोश दिखा नभको देता था गाली।
एक ओर अतिक्षीण नील रेखा-सी बनाली
दीखती थी फैली-हुई तट - प्रान्तमें सुदूर ;
अन्य ओर लुब्ध-क्षुब्ध हिंस्र वारिराशि क्रूर
उच्छ्वसित हो रही थी प्रशान्त सूर्यास्त-ओर
उद्भ्रान्त उत्क्रान्त मानो उद्धत विद्रोही घोर।

नाविक सम्हालें लाख, नाव न सम्हलती थी,
डगमग डोलती थी, झूमती उछलती थी,
अशान्त उन्मत्त सम। तीखी ठंडी वायु, और
जाड़ा भी कड़ाकेका था ; यात्री लोग उस ठौर
थर-थर काँपते थे। कोई जोरसे पुकार
आत्मीयोंको बारम्बार रो रहा था ढाड़ें मार
घिग्घी किसीकी थी बँधी। मैत्रका गया उतर
मुँह ; लगे करने वे जप आँखें मूँदकर।

माकी छातीमें गोपाल मुँह छिपा चुपचाप
काँपता था। केवल विप्रवर बोले सानुताप,
"किया किसीने अवश्य सागर - बाबासे छल,
मानके उतारी नहीं मन्नत, उसीका फल,
आँधी लिये असमय लहरा उठा है यह।
जिसकी जो मानता हो, अभी करो पूरी वह।
देवतासे मत करो खेल, ये हैं कोपागार।"

द्रव्य वस्त्र जिसके जो पास था बिना विचार
पानीमें उछाल दिया किन्तु ठीक उसी क्षण
नावमें लहर गिरी दारुण प्रपात बन।
नाविकोंने फिर कहा, "इसीसे है सुलक्षित,
कोई है चुराये लिये जाता वस्तु देवार्पित।"

सहसा खड़े हो, दिखा मोक्षदाको, विप्रवर
बोले, "यही नारी देवताको पुत्र सौंपकर
लिये जा रही चुराये।" "फेंको उसे यहीं अभी"
—गर्जे उठे क्रूरमना एकसाथ यात्री सभी।
"रक्षा करो बाबा" – चीख नारीने पकड़ लिया
पुत्रको हाथोंसे कस छातीमें जकड़ लिया।
भर्त्सनाके स्वरमें गरज उठे तब द्विज,
"रक्षा करूँ तेरी मैं! क्रोधान्ध गवाँ होश निज
मा होके तू देवताको पुत्र सौंप बैठी तब,
और अन्तमें मैं प्राण उसके बचाऊँ अब!
चुका ऋण देवताका; सत्य भंग करेगी क्या?
इतने प्राणियोंको तू सिन्धुमें डुबायगी क्या?"
बोली वह, "मैं हूं मूर्ख नारी, यदि मैंने कही
क्रोधवश बात कोई, हो गई क्या सत्य वही?

कहाँ तक मिथ्या वह बात थी, हे विश्वस्वामी,
सुनके क्या समझ न सके तुम अन्तर्यामी !
मुँहकी ही कही सिर्फ कानोंने तुम्हारे सुनी,
माके उर-अन्तरकी, नाथ, तुमने न गुनी !''
कह ही रही थी कि अनेकोंने बलात् दीन
बालकको रोती माकी छातीसे ही लिया छीन।
मैत्र मुँह फेरे रहे दोनों आँखें बन्द कर,
कानोंपर हाथ धरे, दाबे दाँत दाँतोंपर।
सहसा किसीने मर्मस्थलीमें ही ब्राह्मणकी
विद्युत् - आघात तथा वृश्चिक - दंशनकी
यन्त्रणा दी। असहाय बालककी निरुपाय
अंतिम पुकार बस, ''मासी मासी मासी'' हाय
रुद्ध कानोंमें आ पैठी अनल - शलाका सम।
''रहने दो, रहने दो'' — चीखे विप्र उसी दम,
मुँह फेर चौंके, देख, मूर्च्छिता मोक्षदा पड़ी
उनके ही चरणोंमें। और देखा उसी घड़ी
उठती तरंगों - बीच खोल दृग अतिदीन
'मासी मासी' — चिल्लाकर बालक हुआ विलीन
तमोराशिमें अनन्त। एक नन्हीं बँधी मुट्ठी
जोर लगा ऊपरको बस एक बार उट्ठी,
नभमें सहारा ढूँढ़ डूब गई हो हताश।
''लौटा लाऊँगा मैं तुझे'' — कह विप्र उर्ध्वश्वास
पलक झपकतेमें कूद पड़े जलमें जा,
निकले न फिर। डूबा सूर्य अस्ताचलमें जा।

कालकी यात्रा

१

रथकी रस्सी

रथयात्राके मेलेमें स्त्रियाँ

प्रथमा— अबकी बार हुआ क्या, बहन !
उठी हूं कब सवेरे, तब कौए भी नहीं बोले ;
कंकाली-तालमें दो डुबकियाँ लगाके
तुरत चली आई रथ देखने, अबेर हो गई ;
रथका पता ही नहीं । पहियोंकी आहट नहीं ।

द्वितीया—चारों तरफ कैसा-तो सन्नाटा हो रहा है,
डरसे रोंगटे खड़े हो गये मेरे तो ।

तृतीया— दुकानदार-बिसाती सब चुपचाप बैठे हैं,
खरीद-बिक्री बन्द है । सड़कके किनारे-किनारे
आदमी भीड़ लगाये गौरसे देख रहे हैं
कब आता है रथ । मानो आशा छोड़ दी है ।

प्रथमा— देशवासियोंका प्रथम यात्राका दिन है आज ;
आज ब्राह्मण-पुरोहित सब निकलेंगे अपने शिष्योंके साथ,
आज निकलेंगे राजा, पीछे-पीछे चलेंगे सैनिक-सामन्त,
पण्डित निकलेंगे, विद्यार्थी चलेंगे पोथी-पत्रा हाथमें लिये ।
गोदका बच्चा लिये-हुए औरतें निकलेंगी,
बच्चोंकी होगी पहली शुभ-यात्रा, —
पर, सब रुक क्यों गया अचानक ?

द्वितीया—वो देख, पुरोहित वहाँ क्या बड़बड़ा रहे हैं !
महाकालका पण्डा बैठा है गालपर हाथ धरे ।

संन्यासीका प्रवेश

संन्यासी—सर्वनाश आ गया !
छिड़ेगा युद्ध, जलेगी आग, होगी महामारी,
धरणी होगी बंध्या, पानी जायगा सूख ।
प्रथमा— यह कैसी अमंगलकी बात कह रहे हो, प्रभु !
उत्सवमें आई हैं हम महाकालके मन्दिरमें,
आज रथयात्राका दिन है ।
संन्यासी—देखतीं नहीं, – आज धनीके धन है,
पर उसकी कीमत हो गई है खोखली, हाथीके-खाये कैथकी तरह।
भरी फसलके खेतमें घर कर लिया है उपवासने ।
यक्षराज स्वयं अपने भण्डारमें बैठे अनशन कर रहे हैं।
देखतीं नहीं, – लक्ष्मीके घटमें आज सैकड़ों छेद हो रहे हैं,
उनके प्रसादकी धाराको सोखे ले रही है मरुभूमि,
फल नहीं रहा है आज कोई फल !
तृतीया— हाँ, महाराज, देख तो रही हूँ।
संन्यासी—तुमलोगोंने बराबर कर्ज लिया ही है,
चुकाया कुछ भी नहीं;
दिवालिया बना डाला है युगके वैभवको ।
इसीसे हिल नहीं रहा है आज रथ !
वो देखो, सड़ककी छातीसे लिपटी पड़ी है उसकी असार रस्सी।
प्रथमा— हाय राम, अब ! मेरा तो जी काँपने लगा ।
वो तो अजगर पड़ा है, खा-खाके मोटा हो गया है, –
हिला नहीं जाता उससे ।
संन्यासी—रथकी रस्सी है वह, जितनी नहीं चलती उतनी ही उलझाती है।
जब चलती है, तो सबको मुक्त कर देती है ।
द्वितीया—समझ गई, हमारी पूजा पानेके लिए

धरना दिये पड़े हैं रस्सी-देवता ।
पूजा पाते ही खुश हो जायेंगे ।

प्रथमा— पर बहन, पूजाकी सामग्री तो लाईं नहीं । भूल हो गई ।

तृतीया— पूजाकी तो कोई बात नहीं थी, –
सोचा था मेला देखूँगी, चीजें खरीदूँगी,
खेल देखूंगी जादूगरका,
और देखूंगी बन्दर-भालूका नाच ।
चलती क्यों नहीं जल्दी, अब भी समय है, –
ले आयें जाकर पूजाकी सामग्री ।

[सबका प्रस्थान

नागरिकोंका प्रवेश

प्र.ना०—देखो रे देखो, रथकी रस्सी कैसे पड़ी है ।
युग-युगान्तरकी रस्सी है, देश-देशान्तरके हाथ पड़े हैं इसपर,
आज उससे मस नहीं हो रही, जमीनमें दाँत गड़ाये पड़ी है ;
पड़ी-पड़ी काली पड़ गई है ।

द्वितीय— डर लगता है भाई ! हटके खड़े होओ, दूर रहो ।
मालूम होता है अभी तुरत फन उठायेगी, डस लेगी ।

तृतीय— जरा-जरा हिल रही है न ! उठनेको फड़फड़ा रही है शायद ।

प्रथम— ऐसा न कहो । ऐसी बात मुंहसे नहीं निकालते ।
रस्सी अगर खुद हिले, तो फिर कोई बच नहीं सकता ।

तृतीय— इसके हिलते ही उस एक ही धक्केसे
संसारके सब जोड़ खुलकर बेजोड़ हो जायेंगे ।
हम अगर न चलायें, अगर यह खुद ही चलने लगे,
तो हम सब-के-सब दब मरेंगे रथके पहियोंके नीचे ।

प्रथम— वो देखो, पुरोहितका मुंह सूख गया है,
एक कोनेमें बैठा-बैठा मन्तर पढ़ रहा है ।

द्वितीया— वे दिन लद गये, भाई साहब,
जब पुरोहितके मन्तर-पढ़े हाथके खिंचावसे रथ चलता था ;
तब थे वे कालके प्रथम वाहन।

तृतीय— फिर भी आज सवेरेसे देख रहा हूं, पंडितजी खींचे जा रहे हैं।
किन्तु बिलकुल उलटे रास्ते, पीछेकी तरफ।

प्रथम— वही तो ठीक रास्ता है, पवित्र पथ, आदिपथ।
उस पथसे दूर आकर ही तो कालका दिमाग खराब हो जाता है।

द्वितीय— बड़े-भारी पंडित हो गये मालूम होता है ! इतनी बातें सीखीं कहांसे ?

प्रथम— इन्हीं पण्डितोंसे। उनका कहना है, —
घुटने हमेशा पेटको नवते हैं।
महाकालकी नाड़ीका खिंचाव है पीछेकी तरफ,
सब मिलकर रस्सी खींचते हैं तो चलना पड़ता है सामने।
नहीं तो पीछे हटते-हटते वे कबके पहुँच जाते
अनादि कालके अतल गह्वरमें।

तृतीय— उस रस्सीकी तरफ देखनेमें डर लगता है।
ऐसी लगती है जैसे युगान्तरकी नाड़ी हो, —
सन्निपात-ज्वरसे आज लप-लप कर रही है।

संन्यासीका प्रवेश

संन्यासी—सर्वनाश आ गया !
घड़घड़ाहट हो रही है जमीनके नीचे।
भूकम्पका जन्म हो रहा है।
गुफाके भीतरसे आग जीभ निकाल रही है, सब चाट जायगी !
पूरब-पश्चिम चारों तरफ आकाश लाल हो उठा है।
प्रलय-दीप्तिकी अंगूठी पहन ली है दिक्चक्रवालने।

[प्रस्थान

प्रथम— देशमें पुण्यात्मा क्या कोई रहा ही नहीं आज ?
पकड़े न आकर रस्सी !

द्वितीय— एक-एक पुण्यात्माको खोज निकालनेमें
एक-एक युग बीत जाता है, —
तब तक पापात्माओंकी क्या दशा होगी ?

तृतीय— पापात्माओंका क्या होगा, भगवानको इसकी कोई फिकर नहीं।

द्वितीय— यह कैसी बात ? संसार तो पापात्माओंसे ही चलता है।
वे न रहें तो लोकनाथका लोक ही उजड़ जाय।
पुण्यात्मा क्वचित्-कभी दैवात् ही आते हैं ; और
हमारे हुड़दंगसे घबराके भाग जाते हैं वन-जंगलमें गुफामें।

प्रथम रस्सीका रंग नीला होता जा रहा है।
सम्हालके जबान निकालो।

स्त्रियोंका प्रवेश

प्रथमा— बजाओ बहन, शंख बजाओ।
रथ बगैर चले कुछ भी नहीं चलनेका।
न तवा चढ़ेगा, न बटलोई : चिड़ियाँ चुग जायँगी खेत।
इतने-ही-में मेरे मझले लड़केकी नौकरी छूट गई,
उसकी बहू पड़ी है बुखारमें। भाग्यमें क्या बदा है, कौन जाने !

प्र.ना०— औरतोंका यहाँ क्या काम ?
कालकी रथयात्रामें कोई हाथ नहीं तुम्हारा।
साग-तरकारी बनाओ घर जाकर।

द्वितीया—क्यों, हम पूजा तो चढ़ा सकती हैं।
हम न होतीं तो पुरोहितका पेट इतना बड़ा न होता।
पाँव पड़ती हूँ तुम्हारे, रस्सी-नारायण ! प्रसन्न होओ।
भोग ले आई हूं तुम्हारा। अरी सुनती है, उँड़ेल, घी उँड़ेल,
चढ़ा दूध, गंगाजलकी घण्टी कहाँ है, —
चढ़ाती क्यों नहीं जल ! पंचगव्य रख यहाँ,
जला पंच-प्रदीप। बाबा रस्सी-नारायण,

मनौती मनाती हूं, जब तुम हिलोगे
तो माथा मुड़ाकर अपने केश चढ़ाऊंगी ।

तृतीया— महीने-भरके लिए भात छोड़ दूंगी, सिर्फ रोटीपर गुजर करूंगी ।
बोलती क्यों नहीं बहन, बोलो सब मिलकर, —
जय रस्सी-नारायणकी जय !

प्रथम— कहाँकी मूर्खा हो तुमलोग !
जय मनाओ महाकालनाथकी जय !

प्रथमा— कहाँ हैं तुम्हारे महाकालनाथ ? देखती तो नहीं आँखोंके आगे ।
रस्सा-नाथ दर्शन दे रहे हैं आँखोंके सामने,
हनुमान-प्रभुकी लंका-जलानेवाली पूंछकी तरह, प्रत्यक्ष, —
कैसे मोटे हैं, कैसे काले हैं हमारे नाथ !
आँखें सफल हुईं आज, जन्म सार्थक हुआ ।
मरते समय इनका चरणामृत छिड़क देना मेरे माथेपर ।

द्वितीया—मैं तो अपना हार गलवा दूंगी, बाजूबन्द गलवाकर
रस्सा-नाथका छोर मढ़वा दूँगी सोनेसे !

तृतीया— अहा, कैसा रूप है, कैसी छटा है !

प्रथमा— जैसे जमुनाकी धारा !

द्वितीया—जैसे नागकन्याकी गुंथी हुई चोटी !

तृतीया— जैसे गणेशजीकी सूंड़ चली गई हो लम्बी होकर ।
देखते ही आँखें भर आती हैं ।

संन्यासीका प्रवेश

प्रथमा— रस्सी-देवताकी पूजा लाई हूं, महाराज !
पुरोहित-महाराज तो हिलते भी नहीं, मन्तर कौन पढ़ेगा ?

संन्यासी—क्या होगा मन्तरसे ?
कालकी राहमें रोड़े अटक गये हैं ।
कहीं ऊंचा है, कहीं नीचा है, कहीं गहरे गड्ढे हैं ।
सब जगह बराबर करनी होगी, तब संकट टलेगा ।

तृतीया—बाबा, ऐसी बात तो सात-जनममें कभी नहीं सुनी !
हमेशासे उंचेका मान रखा है नीचेने सिर झुकाकर ।
ऊंचे-नीचेके पुलपरसे ही तो रथ चलता है ।

संन्यासी—दिनपर दिन गड्ढोंका मुंह फटता ही चला जा रहा है ।
ज्यादती बहुत बढ़ गई है, पुल अब नहीं टिकनेका ।
टूटने-ही-वाला समझो !

प्रथमा— चलो बहन, तो सड़क-देवताको ही पूजा चढ़ायें चलके ।
और गड्ढे-देवोंको भी तो सिन्नी चढ़ाके खुश करना है, –
कौन जाने कब वे श्राप दे बैठें ! एकआध हो तो भुगत भी लें,
दो-दो चार-चार हाथपर तो पड़ते हैं !
नमो नमो रस्सी-नारायण, नाराज न होना भगवान,
घरमें बाल-बच्चे हैं ।

[स्त्रियोंका प्रस्थान

सैनिकोंका प्रवेश

प्र.सैनिक— बाप रे बाप ! रस्सी पड़ी है बीच सड़कमें, –
जैसे डाकिनीकी जटा हो !

द्वि.सैनिक— सिर झुका दिया सबका ।
खुद राजाने हाथ लगाया, हमलोग भी थे पीछे ।
जरा-सी चीं-चू भी नहीं की पहियोंने !

तृ.सैनिक— अरे भई, अपना काम ही नहीं वो ।
क्षत्रिय हैं हम, शूद्र नहीं, बैल नहीं ।
हमेशासे हम चढ़ते ही आये हैं रथपर ;
और खींचते आये हैं वे, जिनका नाम नहीं लिया करते ।

प्र.नागरिक—सुनो भाई, मेरी बात सुनो ।
कालका अपमान किया है हमने,
तभी तो हो रही है ऐसी अनहोनी !

तृ.सैनिक— यह शख्स अब क्या कह रहा है !

प्र.नागरिक— त्रेतायुगमें शूद्रने लेना चाहा ब्राह्मणका सम्मान, –
चाहा कि तपस्या करे, – हिमाकत तो देखो !
उस दिन भी अकाल लग गया देशमें, अचल हो गया रथ ।
दयामय रामचन्द्रके हाथ कटा उसका सिर,
तब कहीं संकट टला, शान्ति हुई ।

द्वि.नागरिक—वही शूद्र शास्त्र पढ़ते हैं आजकल !
हाथसे छीनो तो कहते हैं, 'क्या हम आदमी नहीं !'

तृ.नागरिक—आदमी नहीं ! अच्छा ! अभी क्या-क्या सुनना पड़ेगा कौन जाने ।
किसी दिन कहेंगे, 'हम मन्दिरमें घुसेंगे ।'
कहेंगे, 'ब्राह्मण-क्षत्रियोंके साथ नहायेंगे एक घाटपर !'

प्र.नागरिक— इतनेपर भी रथ जो नहीं चल रहा, यह उसकी दया है ।
चलने लगे तो पहियोंके नीचे पिस जाय संसार ।

प्र.सैनिक— आज शूद्र पढ़ रहे हैं शास्त्र,
कल हल चलायेंगे ब्राह्मण ! प्रलय होनेमें अब देर नहीं ।

द्वि.सैनिक— चलते क्यों नहीं उनलोगोंके मुहल्लेमें, –
चलके साबित कर आवें, – वे ही आदमी हैं, या हम ।

द्वि.नागरिक—इधर न-जाने किस बुद्धिमानने राजासे जा कहा है,
कलियुगमें न शास्त्र चलते हैं, न शस्त्र, –
चलता है सिर्फ स्वर्ण-चक्र । राजाने बुलाया है सेठजीको ।

प्र.सैनिक— रथ अगर चला बनियेके जोरसे
तो गलेमें हथियार बाँधके पानीमें डूब मरेंगे हम ।

द्वि.सैनिक— भाई साहब, फजूल नाराज होते हो, वक्त ही टेढ़ा है ।
इस युगमें पुष्प-धनुषकी डोरी भी
बनियेके हाथके खिंचावसे मीठी टंकार सुनाती है ।
और तीरोंका यह हाल कि बनियेके घर ले जाकर बगैर पैनाये
वे छातीमें ठीक जगह चुभना ही नहीं चाहते !

तृ.सैनिक— सो सच है। इस कालके राज्यके राजा रहते हैं सामने, –
पीछे उनके रहते हैं बनिये।
अर्थात् अर्ध-वणिक-राजेश्वरकी मूर्ति।

संन्यासीका प्रवेश

प्र.सैनिक— क्यों संन्यासीजी, रथ क्यों नहीं चलता हमारे हाथसे ?
संन्यासी— तुमलोगोंने रस्सीको कर दिया है जर्जर।
जहाँ जितने भी तीर चलाये हैं, सब आके चुभे हैं इस रस्सीमें।
भीतरसे खोखली हो गई है, बन्धनका जोर हो गया है ढीला।
तुमलोग बराबर इसके घाव बढ़ाते ही चलोगे,
बलके नशेमें चूर होकर कालको कर दोगे दुर्बल।
हटो हटो, हट जाओ इसके रास्तेसे। [प्रस्थान

धनपतिके अनुचरोंका प्रवेश

प्र. धनिक— यह क्या है जी, अभी ठोकर खाकर गिर पड़ता मैं।
द्वि.धनिक— यही तो है रथकी रस्सी।
तृ. धनिक— बीभत्स हो उठी है, जैसे वासुकि मरके फूल उठा हो।
प्र. सैनिक— कौन हैं ये लोग ?
द्वि.सैनिक— अंगूठोके हीरेमेंसे चमककी चिनगारियाँ
उछल-उछलके पड़ रही हैं आँखोंमें।
प्र.नागरिक—धनपत सेठके अनुचर हैं ये।
प्र.धनिक— हमारे सेठजीको बुलाया है राजाने।
सबको आशा है कि उन्हींके हाथसे चलेगा रथ।
द्वि.सैनिक— सब ? सबके मानी क्या हैं, साहब ?
और वे आशा किस बातकी करते हैं ?
द्वि.धनिक— वे जानते हैं, आजकल जो-कुछ चल रहा है
सब धनपतिके हाथसे ही चल रहा है।

प्र.सैनिक— सचमुच ? अभी दिखा दे सकता हूँ, –
तलवार चलती है हमारे ही हाथसे !

तृ.धनिक— तुम्हारे हाथको कौन चलाता है ?

प्र.सैनिक— चुप रहो, बेअदब !

द्वि.धनिक— चुप रहेंगे हम !
आज हमारी ही आवाज घूम-फिर रही है जल-थल-आकाशमें।

प्र.सैनिक— सोचते होगे, हमारी 'शतघ्नी' भूल गई है अपना वज्रनाद ?

द्वि.धनिक— भूलनेसे चलेगा कैसे ?
उसे जो हमारा ही आदेश घोषित करना पड़ता है
एक बाजारसे दूसरे बाजारमें, समुद्रके घाट-घाटपर।

प्र.नागरिक—इनसे बहसमें तुम न जीत सकोगे।

प्र.सैनिक— क्या कहा, नहीं जीतेंगे !
सबसे बड़ी बहस खनखना रही है हमारी मियानके अन्दर।

प्र.नागरिक— तुम्हारी तलवारोंमें कोई खाती है उनका नमक,
कोई खा बैठी है उनकी रिश्वत।

प्र.धनिक— सुना है, नर्मदा-तीरके बाबाजीको बुलाया गया था
रस्सीमें हाथ लगानेके लिए। पता है कुछ ?

द्वि.धनिक— पता क्यों नहीं।
राजाके गुप्तचर पहुँच गये गुफामें,
प्रभु तब चित पड़े थे दोनों पैर छातीसे लगाये।
तुरही-भेरी-दमामा-जगझम्पकी चोटसे ध्यान तो भंग हुआ,
पर पैर गये लकड़ा।

प्र.नागरिक—श्रीचरणोंका क्या दोष इसमें ?
पैंसठ वर्षमें नाम तक नहीं लिया चलने-फिरनेका।
बाबाजीने कहा क्या ?

द्वि.धनिक— कहने-सुननेका झंझट ही नहीं रखा था।
जीभकी चंचलतापर क्रुद्ध होकर शुरूमें ही उसे काट फेंका था।

प्र.धनिक— फिर ?

द्वि.धनिक—फिर दस जवान मिलके उठा लाये उन्हें रथके पास।
रस्सीमें हाथ लगाते ही
रथके पहिये बैठने लगे जमीनके अन्दर।

प्र.धनिक— जैसे अपने मनको डुबोया, रथको भी वैसे ही डुबो दिया।

द्वि.धनिक—एक दिनके उपवाससे ही आदमीके पैर नहीं चलते, –
फिर पैंसठ वर्षके उपवासका वोझ आ पड़ा पहियोंपर !

मन्त्री और धनपतिका प्रवेश

धनपति— क्यों याद किया, मन्त्रीजी ?

मन्त्री— अनर्थ-पात होते ही तुम्हारी याद आती है।

धनपति— अर्थ-पातसे जिसका प्रतिकार हो सकता है, मुझसे वही संभव है।

मन्त्री— महाकालका रथ नहीं चल रहा।

धनपति— आज तक हम सिर्फ पहियोंमें तेल देते रहे हैं, –
रस्सी तो कभी नहीं खींची।

मन्त्री— और सब शक्तियाँ आज अर्थहीन हैं,
तुम्हारे अर्थवान हाथोंकी परीचा होने दो !

धनपति— कोशिश की जाय।
दैवसे कोशिश अगर सफल हुई तो कुछ खयाल न कीजियेगा।
(अपने अनुचरोंसे) बोलो, सिद्धिरस्तु !

धनिकवर्ग—सिद्धिरस्तु।

धनपति— तो लगाओ हाथ भाग्यवानो !
खीचों कसके।

धनिकवर्ग—रस्सी उठाये उठती ही नहीं। बहुत भारी है।

धनपति— आओ कोषाध्यक्ष, पकड़ो तो सही कसके।
बोलो, – सिद्धिरस्तु ! खींचो, – सिद्धिरस्तु !
खींचो, – सिद्धिरस्तु !

द्वि.धनिक—मन्त्रीजी, रस्सी तो और-भी ज्यादा पथरा गई !
और हमारे हाथोंमें मार गया लकवा ।
सबके सब—गाँय-गाँय फिस !
सैनिक— खैर, हमारा मान रह गया ।
पुरोहित— हमारा धर्म बच गया ।
सैनिक— होता कहीं वो जमाना, -
तुम्हारा सर धड़से अलग कर दिया जाता ।
धनपति— बस, यही एक सीधा काम ही जानते हो तुमलोग ।
सर खपा नहीं सकते, काट ही सकते हो ।
मन्त्रीजी, सोच क्या रहे हो ?
मन्त्री— सोच रहा हूँ, सभी कोशिशें व्यर्थ गईं, -
अब उपाय क्या है ?
धनपति— अब उपाय निकालेंगे स्वयं महाकाल ।
उनकी अपनी पुकार जहाँ पहुँचेगी, वहाँसे वाहन दौड़ा आयेगा ।
आज जो नजर नहीं आते, कल वे दिखाई देंगे सबसे बढ़कर ।
अजी ओ खजांची, अभीसे सम्हालो जाकर खाता-बही ।
कोषाध्यक्ष, सन्दूक सब बन्द करो मजबूत तालोंसे ।
[धनपति और उसके अनुचरोंका प्रस्थान

स्त्रियोंका प्रवेश

प्रथमा— क्योंजी, रथ नहीं चला अभी तक, देश-भर जो उपासा मर रहा है !
कलजुगमें भक्ति रही ही नहीं ?
मन्त्री— तुमलोगोंमें भक्तिकी कमी क्या है, -
देखूं न अब उसमें कितना जोर है ?
प्रथमा— नमो नमो,
नमो नमो, बाबा रस्सी-नाथ, तुम्हारी दयाका अन्त नहीं !
नमो नमो ।

द्वितीया—तीनकौड़ीकी मा कहती है, सत्रह सालकी ब्राह्मणकी लड़की
ठीक दोहरको, 'बम भोलानाथ' कहके
बड़े तालमें, घाटसे तीन हाथके भीतर-ही-भीतर
एक ही डुबकीमें तीन 'पट-सियाला' उठाकर
अपने भीगे बालोंमें बाँधके रस्सी-नाथके आगे जलावे
तो उनका ध्यान भंग हो। जुगाड़ तो कर लाई हूँ बड़ी मुश्किलसे,
समय भी हो रहा है जलानेका।
पहले रस्सी-बाबाके सिन्दूर-चन्दन लगाओ;
डर किस बातका, भक्तवत्सल होते हैं भगवान,
मन-ही-मन श्रीगुरुका नाम जपकर हाथ लगानेसे
कोई दोष नहीं मानेंगे वे।

प्रथमा— तुम्हीं लगा दो न, बहन, चन्दन-वन्दन, मुझसे क्यों कहती हो।
मेरा देवरका लड़का बीमार है,
क्या जानें किससे क्या हो जाय!

तृतीया—वो देखो, धुआँ तो उठ रहा है चक्कर खाता-हुआ।
पर जागे तो नहीं?
दयामय!
जय प्रभु, जय रस्सी-दयाल प्रभु, मुंह उठाके देखो तो सही!
तुम्हें पैंतालीस तोलेकी सोनेकी अंगूठी पहना दूंगी, –
बनने दे दी है सुनारको।

द्वितीया—तीन साल तक दासी बनी रहूंगी, भोग चढ़ाऊंगी तीनों वक्त।
अरी ओ बिन्दी, पंखा लाई है न, हवा तो कर जरा, –
देखती नहीं, घामसे तप रही है बादलिया-रंगकी देह इनकी!
घंटीमेंसे गंगाजल तो चढ़ा जरा।
यहाँका कीचड़ तो लगा दे बहन, मेरे माथेसे।
चलो ले तो आई सम्पतकी बुआ: खिचड़ीका भोग।
अबेर हो गई, अहा, कितना कष्ट पाया प्रभुने।

जय रस्सीश्वरकी जय ! जय महारस्सीश्वरकी जय
जय देवाधिदेव रस्सीश्वरकी जय !
लाखों परनाम तुम्हारे चरणोंमें, अनाथोंके नाथ !
इधर भी देखो जरा, तुम्हारे चरणोंमें माथा पटकती हूं,
देखो जरा नजर उठाकर, दया करो प्रभु !
पंखा कर री, पंखा कर जोर-जोरसे।

प्रथमा— क्या होगा अब, क्या होगा हमलोगोंका, ऐं. –
दया नहीं की प्रभुने ! मेरे तीन लड़के परदेसमें हैं,
वे सही-सलामत घर आ जायें।

गुप्तचरोंका प्रवेश

मन्त्री— अच्छा, अब यहाँका काम हो गया तुमलोगोंका,
अब घर जाकर जप-तप व्रत-नियम करो सब।
हमें हमारा काम करने दो।

प्रथमा— जाती हैं, पर देखना मन्त्री महाराज,
वो धुआँ ज्योंका त्यों बना रहे, –
और वो बेलका पत्ता गिरने न पावे !

[स्त्रियोंका प्रस्थान

गुप्तचर— मन्त्रीजी, झमेला हुआ है शूद्रोंके मुहल्लेमें।

मन्त्री— क्या हुआ ?

गुप्तचर— जत्था बना-बनाकर दौड़े आ रहे हैं, कहते हैं, हम चलायेंगे रथ !

सबके सब—ऐं, इतना हौसला ! रस्सी छूने कौन देगा उन्हें !

गुप्तचर— रोकेगा कौन उन्हें ? मारते-मारते तलवारें घिस जायेंगी।
मंत्रीजी, बैठ क्यों गये ?

मंत्री— जत्था बनाके आ रहे हैं इसका मुझे डर नहीं,–
डर है रथ चला सकेंगे वे ?

सैनिक— कहते क्या हो मंत्रीजी, – पत्थर पानीमें तिरेगा ?

मंत्री— 'नीचेकी मंजिल'का सहसा 'ऊपरकी मंजिल' हो उठना ही प्रयल है।
शुरूसे ही जो दबा-छिपा है उसके प्रकट होनेके कालको ही
कहते हैं 'युगान्तर' !

सैनिक— आदेश कीजिये, क्या करना होगा ? डरते नहीं हम।

मंत्री— डरना ही होगा, –
तलवारोंकी दीवार खड़ी करके बाढ़ नहीं रोकी जा सकती।

गुप्तचर—अब क्या आदेश है, कहिये ? .

मंत्री— रोको मत, बाधा न दो उन्हें।
बाधा पाते ही शक्ति अपने-आपको पहचान जाती है, –
और जहाँ अपनेको पहचाना, फिर वे किसीके रोके नहीं रुकेंगे।

गुप्तचर— वो देखिये, आ गये सब।

मंत्री— कुछ मत करो तुमलोग, स्थिर बने रहो।

शूद्र-दलका प्रवेश

दलपति— हम आये हैं बाबाका रथ चलाने।

मंत्री— तुम्हीं लोग तो बाबाका रथ चलाते आये हो हमेशासे।

दलपति—अब तक हम पड़ते थे रथके पहियोंके नीचे,
पिसकर धूलमें मिल जाते थे चपटे होकर।
अबकी बार हमारी वे बलियाँ तो लीं नहीं बाबाने !

मंत्री— यही तो देख रहा हूं।
सवेरेसे पहियोंके आगे धूल-मिट्टीमें लोटते रहे, –
डरसे ऊपरको देखा तक नहीं कि कहीं देवतापर नजर पड़ जाय,
फिर भी तो पहियोंमें जरा भी भूख नहीं दिखाई दी !

पुरोहित—इसीको कहते हैं मन्दाग्नि,
तेजका क्षय होते ही होती है ऐसी दशा।

दलपति—अबकी बार उन्होंने हमें पुकारा है रस्सी खींचनेको।

पुरोहित—रस्सी खींचनेको ! बड़ी बुद्धि है तुम्हारी ! कैसे जाना तुमने ?

दलपति— कैसे जाना सो कोई नहीं जानता ।
सवेरे उठते ही सबने कहा सबसे, –
'पुकारा है बाबाने ।' बात फैल गई चारों तरफ,
मैदान पार करके, नदी पार करके,
पहाड़ लाँघकर खबर फैल गई चारों ओर, –
पुकारा है बाबाने ।

सैनिक— खून चढ़ानेको ?

दलपति— नहीं, रस्सी खींचनेको ।

पुरोहित—बराबर जो संसारको चलाते हैं, रथकी रस्सी उन्हींके हाथमें है ।

दलपति—संसार क्या तुम्हीं लोग चलाते हो, महाराज ?

पुरोहित—इतना हौसला ! मुंहपर जवाब देना सीख गये हो !
अब देर नहीं, श्राप पड़ने-ही-वाला है ।

दलपति— मंत्री महाराज, तुम्हीं लोग चलाते हो क्या संसार ?

मंत्री— सो कैसे ! संसारका मतलब तो तुम्हीं लोगोंसे है ।
अपने गुणसे चलते हो तुमलोग, इसीसे बचाव है ।
चालाक लोग कहते हैं, 'हम ही चलाते हैं ।'
हम तो सिर्फ अपनी बात रखते हैं लोगोंको भुलावा देकर ।

दलपति—हम ही तो जुटाते हैं अन्न, उसीसे तुमलोग जीते हो ;
हम ही तो बुनते हैं कपड़ा, उसीसे तुम्हारी आबरू है ।

सैनिक— अब नहीं ठिकाना ! घोर कलिकाल आ गया !
अब तक सिर झुकाये ये ही तो कहते आये हैं, –
'तुम्हीं हमारे अन्नदाता हो, मालिक हो ।'
आज बोल रहे हैं उलटा बोल !
यह तो असह्य है ।

मंत्री— (सनिकसे) चुप रहो ।
सरदार, महाकालके वाहन तुम्हीं लोग हो,
तुमलोग नारायणके गरुड़ हो ।

अबसे तुम अपना काम करते जाओ।
उसके बाद आयेगी हमारी काम करनेकी पारी।

दलपति— अब कोई डर नहीं, खींचो सब, –
मरें या जीयें, खींचो सब मिलके, खींचो!

मंत्री— लेकिन, भाई, सावधानीसे रास्ता बचाके चलना।
बराबर जिस रास्तेसे रथ चला है, उसी रास्तेसे जाना।
बिलकुल हमारी गरदनपर न आ पड़ना, सम्हलके चलना।

दलपति— कभी हमें बड़ी सड़कसे चलने नहीं दिया गया,
इसीसे रास्ता नहीं जानते हम।
रथमें जो हैं वे ही सम्हालेंगे सबको।
आओ भाइओ, देख रहे हो, रथकी ध्वजा कैसी फहर रही है!
बाबाका इशारा है। डर नहीं, अब कोई डर नहीं।
देखो भाइओ, आँख उठाके देखो,
सूखी नदीमें जैसे बाढ़ आती है
रस्सीमें वैसे ही प्राण आ पहुँचे हैं।

पुरोहित— छू ली, छू ली, आखिर छू ही ली रस्सी पाखण्डियोंने!

स्त्रियोंका दौड़ते-हुए प्रवेश

सबकीसब—छुओ मत, छुओ मत, दुहाई है बाबाकी!
ओ गदाधर, ओ बनमाली, ऐसा महापाप न करो।
संसार रसातलमें डूब जायगा।
हमारे पति भाई बहन बाल-बच्चे
कोई न बचेंगे देवताके कोपसे।
चलो बहन, चलो यहाँसे, देखनेसे भी पाप लगेगा।

[प्रस्थान

पुरोहित— आँखें मीचो, आँखें मींच लो तुमलोग।
भस्म हो जाओगे क्रुद्ध महाकालकी मूर्ति देखते ही।

सैनिक— यह क्या, यह क्या ! पहियोंकी आवाज है क्या, –
या आकाश कर उठा है आर्तनाद ?

पुरोहित—हो नहीं सकता, हरगिज नहीं हो सकता यह,
किसी शास्त्रमें नहीं लिखा ।

नागरिक—हिल रहा है, भाई, हिल रहा है, लो, चलने भी लगा !

सैनिक— देखो देखो, कैसी धूल उड़ी ! पृथ्वी साँस छोड़ रही है।
अन्याय है, घोर अन्याय ! आखिर रथ चलने लगा ।
पाप है, महापाप है ।

शूद्र-दल—जय, जय महाकालनाथकी जय !

पुरोहित—ऐं, यह भी देखना पड़ा इन आखोंसे !

सैनिक— महाराज, तुम्हीं आज्ञा दो, रोक दें रथ-चलना ?
बूढ़े हो गये हैं महाकाल, उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है,
देख लिया आज अपनी आँखोंसे ।

पुरोहित—साहस नहीं होता आदेश देनेका ।
आखिर बाबाकी यही इच्छा थी कि जात-पाँत मिट जाय,
तो – अबकी बार चुप रह जाओ, रंजूलाल ।
अगले साल बाबाको प्रायश्चित्त करना होगा ।
करना ही होगा, करना ही होगा, करना ही होगा ।
उनका शरीर शोधन करनेमें गंगा सूख जायगी ।

सैनिक— गंगाकी जरूरत नहीं पड़ेगी ।
घड़ेके ढक्कनकी तरह शूद्रोंकी खोपड़ी उड़ा देंगे, –
उनके खूनसे अभिषेक करेंगे बाबाका ।

नागरिक—मन्त्रीजी, जा कहाँ रहे हो ?

मंत्री— जाता हूँ उनके साथ रस्सी खींचने ।

सैनिक— छि-छि, उनके हाथसे हाथ मिलाओगे तुम !

मंत्री— उन्हींको तो मिला है आज कालका प्रसाद।
स्पष्ट ही तो देखा, – यह तो माया नहीं, स्वप्न नहीं ।

अबसे अपना मान रखना पड़ेगा उनके साथ समान होकर।

सैनिक— इसके मानी हैं उनके साथ एक पंक्तिमें रस्सी खींचना !
इस अन्यायको रोकके रहेंगे हम, रथ चले या न चले।

मंत्री— अबकी बार मालूम होता है
रथके नीचे पिसनेकी पारी तुम्हीं लोगोंकी है।

सैनिक— सो भी अच्छा। बहुत दिनोंसे चण्डालोंका खून पीकर
पहिये अशुद्ध हो गये हैं।
अबकी बार उन्हें शुद्ध रक्त मिलेगा। स्वाद बदलने दो।

पुरोहित—क्या हुआ मंत्री, यह किस शनिग्रहका जादू है ?
रथ तो इतनेमें ही उतर पड़ा राजमार्गमें।
पृथ्वी फिर भी तो घुस नहीं गई रसातलमें !
मतवाला रथ कहाँ जा पड़ेगा किस मुहल्लेकी गरदनपर, कौन जाने !

सैनिक— वो देखो, धनपतिका दल आर्तनाद करके पुकार रहा है हमें।
रथ सीधा चला जा रहा है उन्हींके भण्डारकी तरफ।
जायें उनकी रक्षा करें जाकर।

मंत्री— अपनी रक्षाकी बात तो सोचो।
देखते नहीं, झुका चला जा रहा है तुम्हारी अस्त्रशालाकी तरफ !

सैनिक— अब क्या करें ?

मंत्री— उनके साथ मिलकर रस्सी थामो जाकर।
बचनेकी तरफ लौटा लाओ रथको,—
दुविधा करनेका समय नहीं है। [प्रस्थान

सैनिक— क्या करोगे पुरोहितजी, तुम क्या करोगे ?

पुरोहित—वीरगण, तुमलोग क्या करोगे पहले बताओ ?

सैनिक— क्या करना होगा बताओ-न, भाइयो ?
सबके सब बिलकुल चुप्पी साध गये !
बोलो, रस्सी थामें, या लड़ाई करें ?
पुरोहितजी, तुम क्या करोगे बताओ-न ?

पुरोहित— क्या मालूम, – रस्सी थामूं, या शास्त्र पढ़ूं ?
प्र.सैनिक— गया, गया सब ! रथका ऐसा हुंकार तो मैंने कभी नहीं सुना।
द्वि.सैनिक—देखो तो सही, रथको क्या वे ही खींच रहे हैं
या रथ खुद ही ढकेले लिये जा रहा है उन्हें।
तृ.सैनिक— अब तक रथ चलता था मानो स्वप्नमें, –
हम खींचते थे और वह पीछे-पीछे खिंचा आता था बैलकी तरह।
आज चल रहा है जागकर। बाप रे, क्या तेज है !
मान ही नहीं रहा हमारे बाप-दादाओंका रास्ता, –
कच्चे रास्तेसे दौड़ पड़ा है जंगली भैंसेकी तरह।
पीठपर चढ़ बैठा है यमराज।
द्वि.सैनिक—वो देखो, कवि आ रहा है, उससे पूछा जाय बात क्या है ?
पुरोहित— पागलों जैसी बात कर रहे हो तुमलोग।
हम ही नहीं समझ सके मानी, – कवि समझेगा ?
उनका तो काम है बना-बनाके बात करना, शास्त्रका वे क्या जानें ?

कविका प्रवेश

द्वि.सैनिक—यह क्या उलटा-पुलटा मामला है, कवि ?
पुरोहितके हाथसे नहीं चला रथ, राजाके हाथसे नहीं चला, –
मतलब समझे कुछ ?
कवि— उनका मस्तक था बहुत ऊँचा,
महाकालके रथकी चोटीकी तरफ ही थी उनकी दृष्टि, –
नीचेकी तरफ देखा ही नहीं उन आँखोंने ;
रथकी रस्सीको ही कर दिया तुच्छ।
आदमीके साथ आदमीको बाँधता है जो बन्धन
उसे उनलोगोंने नहीं माना।
क्रुध बन्धन आज उन्मत्त होकर पूँछ फटकार रहा है, –
हड्डियाँ उनकी चूर-चूर कर देगा।

पुरोहित—तुम्हारे शूद्र ही ऐसे कौनसे बुद्धिमान हैं,
वे कौनसे रस्सीके नियम मानकर चल सकेंगे ?

कवि— न चल सकें शायद।
एक दिन वे सोचेंगे, रथी कोई नहीं, रथके सर्वेसर्वा वे ही हैं।
देखना, कलसे ही शुरू कर देंगे चिल्लाना, –
'जय हमारे हल-बैल चरखा-करघेकी जय !'
तब वे ही हो जायेंगे बलरामके चेले,
हलधरके मतवालापनसे दुनिया डगमगा उठेगी।

पुरोहित—तब अगर रथ दुबारा अचल हो जाय
तो शायद तुम जैसे कवियोंकी ही पुकार होगी ;
वे फूँक लगाकर चक्के घुमा देंगे।

कवि— निरा मजाक नहीं, पुरोहितजी !
रथयात्रामें कविकी पुकार हुई है बार-बार।
'कामके आदमियों'की भीड़ चीरकर
वे आ नहीं पाये हैं ठीक जगहपर।

पुरोहित—रथको वे चलायेंगे काहेके जोरसे ? समझा तो दो।

कवि— देहके जोरसे नहीं, छन्दके जोरसे।
हम मानते हैं छन्दको, और जानते हैं –
इकतरफा झुकाव होते ही ताल कट जाता है।
फिर आदमी मरने लगते हैं उस असुन्दरके हाथसे
चाल-चलन जिसका एक तरफ टेढ़ा है ;
कुम्भकर्णके समान जिसकी गढ़न बेमेल है,
जिसका भोजन है कुत्सित,
और वजन है अपरिमित।
हम मानते हैं सुन्दरको। तुमलोग मानते हो कठोरको, –
अस्त्रके कठोरको, शास्त्रके कठोरको।

बाहरके धक्कोंपर विश्वास है तुम्हारा,
अन्तरके ताल-मानपर बिलकुल नहीं।

सैनिक— तुम तो लम्बा उपदेश देते चले जा रहे हो,
उधर जो आग लग रही है!

कवि— युगके अन्तमें तो लगती ही है आग।
जो जलके भस्म होनेका है वही होता है भस्म,
जो टिक जाता है उसीसे होती है सृष्टि नवयुगकी।

सैनिक— तुम क्या करोगे, कवि?

कवि— मैं ताल रख-रखके गीत गाऊँगा।

सैनिक— क्या होगा उसका नतीजा?

कवि— जो रथ खींच रहे हैं, उनके पाँव पड़ेंगे ताल-तालपर।
पैर जब बेताल पड़ने लगते हैं
तब छोटे-छोटे गड्ढे भी भयंकर हो उठते हैं।
मतवालेके लिए पक्की-सड़क भी पहाड़ी-चढ़ाई बन जाती है।

स्त्रियोंका प्रवेश

प्रथमा— यह हुआ क्या, महाराज!
तुमलोगोंने अब तक हमें क्या सिखाया था?
देवताने पूजा नहीं मानी, भक्ति हो गई झूठी!
माना तो क्या, — शूद्रोंका जोर, मलेच्छोंका छूना!
छि-छि, राम-राम!

कवि— पूजा तुमलोगोंने चढ़ाई कहाँ?

द्वितीया—वो देखो-न, वहाँ।
घी चढ़ाया है, दूध चढ़ाया है, गंगा-जल चढ़ाया,—
देखो-न, सारी सड़क भीग गई है, कीचड़-ही-कीचड़ हो गया है।
फूल और पत्तोंका ढेर लग गया है।

कवि— पूजा जा पड़ी धूलमें, भक्ति मिला दी मिट्टीमें ।
रथकी रस्सी क्या बाहर पड़ी रहती है ?
वह रहती है आदमी-आदमीमें बँधी-हुई, –
देह-देहमें हृदय-हृदयमें प्राण-प्राणमें ।
वहीं ढेर लग गया है अपराधोंका, बन्धन हो गया है दुर्बल ।

तृतीया— और वे, जिनका नाम नहीं लेते ?

कवि— उन्हींकी तरफ तो देवताने करवट बदला है,
नहीं-तो छन्द नहीं मिलता ।
एक तरफ ऊंचा हो रहा था बहुत ज्यादा,
देवता इसीसे नीचे जा खड़े हुए छोटोंकी तरफ,
वहाँसे मारा झटका, बड़ेको कर दिया धराशायी ।
समान कर लिया अपना आसन ।

प्रथमा— अब क्या होगा ?

कवि— अब, किसी-एक युगमें किसी-एक दिन
आयेगी उलटे-रथकी पारी ।
तब फिर नये युगके 'ऊंचे' और 'नीचे'में होगा समझौता ।
अभीसे बन्धनमें मन लगाओ,
रथकी रस्सीको लो छातीसे लगा, धूल-मिट्टीमें न डाले रखो ;
सड़कपर भक्ति-रस बहाकर कीच न करो ।
आज सब-कोई मिलके कहो, –
'जो अब तक मरे-हुए थे, वे जी उठें !'
'जो युगोंसे छोटे बने हुए थे, वे खड़े हो जायँ आज सर उठाके !'

संन्यासीका प्रवेश

संन्यासी—जय, महाकालनाथकी जय !

२

कविकी दीक्षा

"मैं तो भरती हुआ था तुम्हारे ही दलमें।"

"भाग क्यों आये ?"

"डरसे।"

"डर काहेका ?"

"भव-भय-निवारिणी सभाके सभापति—"

"वे तो बड़े धार्मिक हैं—"

"बोले मुझसे, वह अभागा—"

"रुक क्यों गये ?
मैं जानता हूं, उन्होंने कहा है,
अभागा तुम्हें रसातल पहुंचा रहा है।"

"ठीक यही शब्द—
रसातल।"

"बेजा कुछ नहीं कहा।"

"कहते क्या हो, कवि ?"

"अपने जीवनमें जिनकी साधनामें मग्न हूँ मैं,
वह देवता ही डूबे-हुए हैं अतलमें—"

"चाचा ताऊ सब कह रहे हैं,
तुम्हारी दीक्षामें न अर्थकी आशा है
न परमार्थकी।"

"पण्डित आदमी हैं तुम्हारे चाचा-ताऊ,
ठीक ही कहते हैं।"

"तब तो सर्वनाश है !"

"सच बात निकल गई मुंहसे, –
सर्वनाश। इसीमें सर्वलाभ है, –
सर्वनाशीने ही मन छीन लिया है कविका।"

"समझ गया बातको।
मिल रही है तत्त्वानन्दस्वामीके कथनसे।
शिव-मंत्र देते हैं वे प्रलय-साधनामें।"

"शिव-मंत्र तो मैं भी देता हूँ।"

"दंग कर दिया तुमने तो!
मैं तो जानता था, तुम कवि हो,
शैव कबसे हो गये?"

"कालिदास थे शैव।
उसी पथके पथिक हैं सभी कवि।"

"क्यों कहते हो बेठीक बात?
तुमलोग मस्त रहते हो नाच और गानमें।"

"संसार-व्यापी नाच-गान ही हमारे प्रभुको प्रिय है।
तत्त्वानन्दस्वामीकी क्या राय है?"

"प्रलयके सिवा दूसरी बात ही नहीं निकलती उनके मुंहसे।
तत्त्वानन्दस्वामी, और नाच-गान!
सुनेंगे तो गम्भीर गणेश
बृंहितध्वनि कर उठेंगे अट्टहास्यसे।
त्यागकी दीक्षा तो उन्हींसे ली है मैंने।"

"अगर वे परामर्श दें सब-कुछ फूँक देनका
तो क्या कर दोगे सब त्याग?
औंधा दोगे सूने घड़ेको?"

"तुम किसे कहते हो त्याग, कवि?"

"त्यागका रूप देखो उस झरनामें,
हमेशा ग्रहण करता है वह, इसीसे हमेशा दान करता रहता है।
अपनेको जिसने सुखा दिया है वही अगर त्यागी है,
तो सबसे पहले शिव त्याग दें अपनी अन्नपूर्णाको।"

"किन्तु संन्यासी शिव भिक्षुक हैं, इतना तो मानते हो?
महत्त्व दिया है उन्होंने संसारके दरिद्रको।"

"दारिद्रय उन्हींके लिए महत्त्व है जो ऐश्वर्यमें महत् हैं।
महादेव भिक्षा लेते हैं सो पानेके लिए नहीं,
हमारे दानको वे करना चाहते हैं सार्थक।"

"भरूंगा कैसे उनकी असीम-भिक्षाकी झोली?"

"वे न चाहते तो ढूंढे मिलता ही नहीं देनेका धन।"

"बात समझ न सका।"

"उन्होंने कुत्ते-बिल्लियोंसे तो कुछ माँगा नहीं।
'अन्न चाहिए'की पुकार की है उन्होंने मनुष्यके द्वारपर।
निकल आया आदमी कँधेपर हल लिये।
जो जमीन ऊसर थी, निकल आया उसमेंसे अन्न।
बोले, 'कपड़ा चाहिए।'
हाथ पसारे ही रहे, –
निकल आया फलसे कपास,
कपाससे सूत,
सूतसे कपड़ा।
भाग्यसे उनकी भिक्षाकी झोली असीम है,
इसीसे आदमीको सन्धान मिलता है असीम सम्पदाका।
नहीं-तो दिन काटने पड़ते कुत्ते-बिल्लियोंकी तरह।
तुमलोग क्या कहते हो, सबसे बड़े संन्यासी कुत्ते-बिल्ली हैं?
तत्त्वानन्दस्वामीका क्या कहना है?"

"उनका कहना है, शिवकी झोलीके खिंचावसे हम हो जायेंगे निष्किञ्चन।
जिसके पास कुछ नहीं है देनेको, उसके कोई कर्ज नहीं।
उसके नाम संसारकी नालिश बिलकुल बन्द है।"

"आदमीको अगर वे दिवालिया कर दें
तो भिक्षु-देवताका रोजगार ही बन्द हो जाय।
उनकी भिक्षाकी झोलीके खिंचावसे आदमी होता है धनी, –
अगर वे दान करते तो सर्वनाश हो जाता।"

"तुम्हारी बात सुनकर ऐसा लगता है कि पुराणकी बात झूठी नहीं।
भिक्षुक-शिवके वरसे ही रावणको सोनेकी लंका मिली थी।
किन्तु आग क्यों लगती है उस लंकामें ?"

"उसने जो भिक्षा ही बन्द कर दी। लगा इकट्ठा करने।
एक ओर जैसे दे नहीं सका, वैसे दूसरी ओर छीनने भी लगा ;
बस, फिर क्या था, हो गया सर्वनाश।
भिक्षु-देवता द्वारपर बैठे पुकारते हैं, 'देहि देहि !'
फिर भी हम कोनेमें बैठे हैं लंगोटी पहने। दें भी तो क्या ?
लोभमें पड़के कोई निकालना नहीं चाहता जमाया-हुआ धन।"

"तो क्या यूरोपवालोंको कहोगे, शिवजीके चेले ?"

"कहना तो पड़ेगा ही।
नहीं-तो इतनी उन्नति कैसे हुई ?
मान ली है उनलोगोंने महाभिक्षुकी माँग।
सभी तो अर्जन करते चले जा रहे हैं नई-नई सम्पदाएँ, –
धन प्राण ज्ञान मान सब-कुछ।"

"अशान्ति भी तो कम नहीं देखता उनमें ?"

"जब शिवके भोगमेंसे अपने तई चोरी करते हैं,
तभी उत्पात शुरू होता है अ-शिवका।
त्यागके धनसे आदमी धनी है, चोरीके धनसे नहीं।

हम आलसी हैं, भिक्षु-देवताको देते नहीं कुछ ।
इसीसे मर रहे हैं सब तरफसे,
खेतमें फसल मर जाती है,
तालमें पानी सूख जाता है,
देहमें समाते हैं रोग, मनको जकड़ लेता है अवसाद,
विदेशी राजा दोनों कान ऐंठ देता है।
शिवकी झोली भरेंगे जिस दिन, उस दिन हमारा सब-कुछ भर उठेगा ।"

"किन्तु शुरूमें जिस रसकी बात कर रहे थे
शिवकी झोलीमें उसका तो कुछ पता ही नहीं ?"

"है क्यों नहीं। पेड़ोंका त्याग है फलसे।
फल नहीं फलते बगैर रसके।
प्राणोंका धन है आनन्द, वही रस है।
जहाँ रसका दैन्य है, प्राणोंका कमंडल वहाँ नहीं भरता ।"

"श्मशानमें क्यों देखता हूँ तुम्हारे उस देवताको ?"

"इसलिए नहीं कि मृत्युमें उनका विलास है,
वहाँ वे हैं मृत्युको जीतनेके लिए।
जो देवता अमरावतीमें रहते हैं
कोई द्वन्द्व ही नहीं उनका मृत्युके साथ।
आदमीके जो शिव हैं
वे विष पान करते हैं विषको दूर करनेके लिए।"
'भिक्षा दो, भिक्षा दो'की आवाज उठी उनके कण्ठसे द्वार-द्वारपर,
वह सुप्ति-भिक्षा नहीं, अवज्ञाकी भिक्षा नहीं।
निर्झरिणीका स्रोत जब अलसा जाता है
तब उसके दानमें 'पंक' ही प्रधान हो उठता है।
दुर्बल आत्माके तामसिक दानसे
देवताके तृतीय नेत्रमें आग जल उठती है।"

बाँसुरी

पहला अंक

पहला दृश्य

श्रीमती बाँसुरी विलायती युनिवर्सिटीकी पास-की-हुई लड़की है। रूपवती बगैर हुए भी उसका काम चल सकता है। उसकी प्रकृति विद्युत-शक्तिसे समुज्ज्वल है; और आकृतिमें है सान-शुदा इस्पातका चाकचिक्य। क्षितीश साहित्यिक है। चेहरेमें त्रुटि है, किन्तु कहानी लिखनेमें ख्यातनामा है। पार्टी जमी है सुषमाके बगीचेमें।

बाँसुरी—क्षितीश, साहित्यमें तुम्हें 'नई-फैशनका धूमकेतु' कहा जा सकता है। जलती-हुई पूँछके झपेटोंसे पुराने-कायदेको तुम झाड़ते चले जा रहे हो साहित्याकाशसे। आज जहाँ तुम्हें लाई हूं, – यहाँ विलायती-बंगालियोंका समावेश है; फैशनेब्लोंका मुहल्ला है यह। यहाँका रास्ता और गली-कूचियाँ तुम्हारी जानी-हुई नहीं हैं। इसीसे जरा-कुछ पहले ही ले आई। फिलहाल जरा कहीं आड़में बैठे रहो। जब सब आ जायें तब प्रकट करना अपनी महिमा। अब मैं जाती हूँ, हो सकता है कि न भी आऊं।

क्षितीश—ठहरो जरा, समझाती जाओ। ऐसी जगह क्यों ले आईं मुझे तुम?

बाँसुरी—तो साफ-साफ कह दूं। तुमने बाजारमें नाम किया है किताबें लिखकर। मैंने और भी उम्मीद की थी। मैंने सोचा था, अपने नामको तुम बाजारसे उद्धार करके इतना ऊंचा उठा दोगे कि निम्नश्रेणीके लोग गालियाँ देना शुरू कर देंगे।

क्षितीश—मेरा नाम बाजारमें-चालू घिसा-हुआ पैसा नहीं है, इस बातको क्या तुम नहीं मानतीं?

बाँसुरी—साहित्यके सदर-बाजारकी बात नहीं हो रही, तुमलोग जिस नये-बाजारके चालू-भावमें व्यापार चला रहे हो वह भी तो एक बाजार है। उसके बाहर निकलनेकी तुममें हिम्मत नहीं, डरते हो कि कहीं मालकी शान न मारी जाय। अबकी बार इसी बातका सबूत मिला है तुम्हारी हालकी किताबमें, जिसका नाम रखा है 'बेमेल'। सस्तेमें पाठकोंको बहलानेका लोभ तुममें पुरी-मात्रामें है। बीचके दरजेके लेखक इसी लोभमें मारे जाते हैं। तुम्हारी इस किताबको मैं तो आधुनिक 'तोता-मैना' ही कहूंगी ; घटिया आधुनिकताके सिवा और कुछ नहीं।

क्षितीश—जरा गुस्सा आ गया मालूम होता है। असलमें तुमलोगोंकी फैशनेबुल पोशाकपर बरछा चुभ गया है।

बाँसुरी—हुँः, बरछा कहते हो उसे! रामलीला-वालोंका गत्तेका बरछा है वह, ऊपरसे राँगेका तबक मढ़ा-हुआ। उससे जो लोग बहलते हैं वे उजबक हैं।

क्षितीश—अच्छा, मान लिया। लेकिन मुझे यहाँ क्यों लाई ?

बाँसुरी—तुम टेबिल बजाकर बजानेका अभ्यास करते हो, जहाँ सचमुचका बाजा मिलता है वहीं सिखाने ले आई हूं तुम्हें। इनलोगोंसे दूर रहते हो, ईर्षा करते हो, बना-बनाकर गालियाँ सुनाते हो। अपनी किताबमें नलिनाक्षके नामसे जिस दलकी सृष्टि करके तुमने अपनी हँसी उड़वाई है, उस दलके लोगोंको तुम सचमुच जानते हो क्या ?

क्षितीश—अदालतमें गवाही-देने-लायक नहीं जानता ; बनाकर कहने लायक जानता हूँ।

बाँसुरी—बनाकर कहनेके लिए अदालतके गवाहसे बहुत ज्यादा जाननेकी जरूरत है, महाशयजी! जब कालेजकी पढ़ाई याद करते थे तब सीखा था 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है', अब बालिग हो चुके हो, फिर भी उस अधूरी बातको पूरी करके न समझ सके कि 'सत्यात्मक वाक्य जब रसात्मक होते हैं तभी वह साहित्य कहलाता है' ?

क्षितीश—लड़कपनकी रुचिके लिए रस जुटाना मेरा व्यवसाय नहीं। मैं आया हूं जीर्णको चूर्ण करके साफ कर देनेके लिए।

बाँसुरी—ओफ्-हो ! अच्छी बात है, कलमको अगर झाड़ू ही बनाना चाहते हो, तो कतवारखाना भी सच्चा होना चाहिए और झाड़ू भी ; और साथ-साथ झाड़ूबरदारका हाथ भी। हम-ही-लोग हैं तुम्हारे नलिनाक्षके दलवाले, हमारे अपराध काफी हैं ; और तुमलोगोंके भी कम नहीं। कसूर माफ करनेके लिए मैं नहीं कहती ; अच्छी तरह जानकारी हासिल करनेके लिए कहती हूँ, सच्ची बात जतानेके लिए कहती हूँ ; फिर चाहे वह अच्छी लगे या बुरी, उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।

क्षितीश—कम-से-कम तुम्हें तो जान ही लिया है बाँसुरी। 'कैसा लग रहा है' उसका भी आभास कनखियोंसे कुछ-कुछ मिल रहा होगा शायद !

बाँसुरी—देखो, साहित्यिक, हमारे दलमें भी मेल-बेमेलकी तौलका एक काँटा है। सीरा मिलाकर बातोंको चिपचिपा कर देनेका यहाँ चलन नहीं। उससे नफरत होती है, जी मिचलाने लगता है। सुनो, क्षितीश, फिर एक बार मैं तुम्हें साफ-साफ बता दूँ।

क्षितीश—इतनी ज्यादा साफ होती हैं तुम्हारी बातें कि जितनी समझमें आती हैं, चुभतीं उससे कहीं ज्यादा हैं।

बाँसुरी—चुभने दो, सुनो। अश्वत्थामाकी कहानी पढ़ी होगी बच्चोंकी। धनीके लड़केको दूध पीते देख जब उसने रोना शुरू किया तो उसे पिसे-हुए चावलोंका धोवन पिला दिया गया था, और तब वह दोनों हाथ उठाकर दूध पीनेकी खुशीमें नाचने लगा था।

क्षितीश—समझ गया, अब ज्यादा कहनेकी जरूरत नहीं। यानी, मैं अपनी रचनाओंमें 'चावलका धोवन' पिलाकर पाठक-शिशुओंको नचा रहा हूँ।

बाँसुरी—बनावटी हैं तुम्हारी रचनाएँ। किताबें पढ़-पढ़कर लिखी गई हैं। जिनके जीवनमें सत्यके साथ परिचय है उन्हें ऐसी रचनाओंमें कोई स्वाद नहीं मिलता।

क्षितीश—सत्यसे परिचय है तुम्हारा ?

बाँसुरी—हाँ, है। पर दुःख इस बातका है कि लिखनेकी शक्ति नहीं। और उससे भी बढ़कर दुःखकी बात यह है कि तुममें लिखनेकी शक्ति है,

किन्तु सत्यसे परिचय बिलकुल नहीं। मैं चाहती हूं तुम स्पष्ट जानना सीखो जैसे मैंने जाना है; और सच्चा लिखना सीखो। फिर देखना, ऐसा मालूम होगा जैसे ही मन-प्राण तुम्हारी लेखनीमें बोल उठे हों।

क्षितीश—जाननेकी बात तो तुमने कह दी, पर यह तो बताओ कि जाननेकी पद्धति क्या है?

बाँसुरी—पद्धित जानना आजकी इस पार्टीसे ही शुरू कर दो। यहाँकी इस दुनियासे तुम उतनी ही दूरीपर हो जितनी दूर रहकर इसका सब-कुछ निर्लिप्त होकर देखा जा सकता है।

क्षितीश—अच्छा, तो इस पार्टीकी तुम एक सरल व्याख्या कर दो, एक सिनॉप्सिस।

बाँसुरी—तो सुनो, एक तरफ इस घरकी लड़की है, नाम है सुषमा। पुरुष-मात्रका यह मत है कि सुषमाके योग्य संसारमें कोई पात्र ही नहीं स्वयं उसके सिवा। उद्धत युवकोंमें कभी-कभी ऐसा आस्तीन-समेटनेका ढंग देखनेमें आता है कि अगर अदालत-कानूनकी बला न होती तो जरूर वे खून-खराबी कर डालते। दूसरी तरफ है शम्भूगढ़का राजा सोमशंकर। स्त्रियाँ उसके बारेमें क्या-क्या कानाफूसी करती हैं सो मैं नहीं बताऊँगी, कारण मैं भी स्त्री-जातिके ही अन्तर्गत हूं। आजकी पार्टी है इन्हीं दोनोंके एन्गेजमेण्टको लेकर।

क्षितीश—दो आदमियोंका ठिकाना तो मिला। दोकी संख्या लुढ़कते लुढ़कते पहुँचती है सुशीतल गृहस्थीमें। तीनकी संख्या है नारद, उलझाना ही उसका काम है। उलझाते-उलझाते अन्तमें ऐसा उलझा देती है कि जीवन बन जाता है ताप-जनक नाटक। इसमें तीसरा व्यक्ति भी जरूर कहीं होगा; नहीं तो साहित्यिकके लिए लोभकी चीज ही फिर क्या रह जाती है?

बाँसुरी—है तीसरा व्यक्ति। और, हो सकता है कि वही प्रधान व्यक्ति हो। लोग उसे पुरन्दर-संन्यासी कहते हैं। पितृदत्त नामका कोई सन्धान नहीं मिलता। किसीने देखा है उसे कुम्भके मेलेमें, और किसीने देखा है गारो-पहाड़पर भालूका शिकार करते-हुए। कोई कहता है, युरोपमें वह बहुत

दिन था। सुषमाको उसने अपनी इच्छासे कालेजमें पढ़ाया है। अन्तमें हो गया यह सम्बन्ध। सुषमाकी मा कहती हैं, 'ब्राह्म-समाजके किसीसे सम्बन्ध होना चाहिए'; किन्तु सुषमा जिद पकड़ बैठी, 'पुरन्दरके सिवा और किसीसे नहीं हो सकता।' चारों तरफकी आवहवाकी बात अगर पूछो, तो मैं कहूँगी, कहीं किसी जगह डिप्रेशन (दबाव) जरूर पड़ा है। बात कुछ आँधी-जैसी है, बादल कहीं-न-कहीं बरसे हैं स्वाभाविकसे कुछ ज्यादा। बस, अब नहीं।

क्षितीश—अरे-रे, यह देखो, मेरी अंडीकी चादरमें स्याहीका दाग कहाँसे पड़ गया!

बाँसुरी—उतावले क्यों होते हो। स्याहीके इस दागमें ही तो तुम्हारी असाधारणता है। तुम रियलिस्ट (वास्तववादी) हो, निर्मलता तुम्हें शोभा नहीं देती। तुम मसीध्वज हो। वो देखो, अनसूया प्रियम्बदा इधर ही को आ रही हैं।

क्षितीश—इसके मानी?

बाँसुरी—दोनों सखी हैं। एक दूसरेसे कभी अलग नहीं होतीं। सखित्वकी उपाधि-परीक्षामें इन्हें ये ही नाम मिले हैं; असल नामोंको सब भूल ही गये हैं। [दोनोंका प्रस्थान

दोनों सखियोंका प्रवेश

पहली सखी—आज सुषमाका इनगेजमेण्ट है सोचती हूँ तो कैसा-तो लगता है।

दूसरी सखी—सभी लड़कियोंका इनगेजमेण्टसे मन खराब हो जाता है।

पहली सखी—क्यों?

दूसरी सखी—मालूम होता है, रस्सीपर चल रही हों, थरथर काँप रही हों सुख-दुःखके बीचमें। मुँहकी तरफ देखते ही कैसा-तो डर लगता है।

पहली सखी—बात सच्ची है। आज मालूम हो रहा है मानो नाटकके पहले अङ्कका ड्राप-सीन उठा है। नायक-नायिकाका भी वही हाल है, खुद नाट्यकारने अपने हाथसे सजाकर भेजा है रंगभूमिपर। राजा सोमशंकरको

देखनेसे ऐसा लगता है जैसे कोई टॉडके 'राजस्थान' से निकल आया हो दो-तीन सौ वर्ष पार होकर।

दूसरी सखी—देखा नहीं, पहले-पहल जिस दिन पधारे थे राजा साहब? खालिस मध्ययुगकी शकल-सूरत थी; लम्बे-लम्बे पीछे-लटकते-हुए घुंघराले बाल, कानोंमें बीरबली, हाथोंमें मोटे-मोटे कंकण, माथेपर चन्दनका तिलक, बोली भी टेढ़ी-टेढ़ी, अशुद्ध उच्चारण। आ पड़ा बेचारा बाँसुरीके हाथ, हो गया उसका मॉडर्न संस्करण। देखते-देखते जैसा रूपान्तर हो गया उससे किसीको सन्देह न रहा कि उसका गोत्रान्तर भी हो जायगा बाँसुरीके वंशमें। पिता प्रभुशंकरको खबर लगते ही चटसे वे उसे आधुनिकके पंजेसे छुड़ा ले गये।

पहली सखी—बाँसुरीसे भी बड़ा उस्ताद है वह पुरन्दर संन्यासी, सबकी सब चहारदीवारियोंको लाँघकर राजाके लड़केको वे फिर खींच लाये इस ब्राह्म-समाजकी अंगूठी-बदलनेकी सभामें। सबसे बढ़कर कठिन थी स्वयं बाँसुरीकी चहारदीवारी, उसे भी वे लाँघ गये।

सुषमाकी विधवा मा विभासिनीका प्रवेश

स्वल्पजला वैशाखी नदीके स्रोत-मार्गमें बीच-बीचमें बालू निकल आनेसे जैसा दृश्य होता है वैसा चेहरा है। शिथिल-विस्तृत देह है, कुछ स्थल मांस-बहुल हैं, फिर भी यौवन-धाराका अवशिष्टांश दबा नहीं है।

विभासिनी—बैठी-बठी क्या बतरा रही हो तुम-दोनों?

पहली सखी—मौसी, सबका आनेका वक्त तो हो गया, सुषमा क्यों नहीं दिखाई देती?

विभासिनी—क्या मालूम, शायद सज-धज रही होगी। तुमलोग चलो बेटी, चायकी टेबिलके पास, अतिथियोंको खिलाना-पिलाना।

पहली सखी—चलती हूँ, मौसी, वहाँ अभी धूप है।

विभासिनी—जाऊँ, देखूँ जाकर सुषमा क्या कर रही है। यहाँ तुम लोगोंने उसे देखा नहीं?

दूसरी सखी—नहीं, मौसी।

विभासिनी—किसने तो कहा था, तालाबके किनारे आई थी?

पहली सखी—नहीं तो! हम दोनों तो यहीं घूम रही थीं।

[विभासिनीका प्रस्थान

दूसरी सखी—अरी, उधर तो देख जरा, बेचारा सुधांशु कैसी मेहनत कर रहा है। अपनी गाँठसे फूल खरीदकर टेबिल सजा रहा है अपने हाथसे। कल एक काण्ड हुआ था, सुना कुछ? नेपूने मुंह बनाकर कहा था, 'सुषमा रुपयेके लोभसे एक जंगली राजाके साथ ब्याह कर रही है।'

पहली सखी—नेपू! उसका मुंह नहीं बनेगा? छातीके भीतर जो उसके धनुष्टङ्कार हो गया है। सुषमाको लेकर युवकोंमें आजकल छाती जलनेका लङ्काकाण्ड चल रहा है। खासकर सुधांशुकी छाती तो जंगी-जहाजका बॉयलर हो उठी है।

दूसरी सखी—कुछ भी कहो, सुधांशुमें तेज है! ज्यों ही सुनी नेपूकी बात त्यों ही चटसे धर पटका उसे जमीनपर, छातीपर सवार हो गया, बोला, 'चिट्ठी लिखके माफी माँगनी होगी।'

पहली सखी—पहले दर्जेका गँवार है। उसके डरसे पेट भरके कोई किसीकी निन्दा भी नहीं कर सकता। सोचो भला, भारतीय सन्तानके लिए यह कैसी मुसीबत है!

दूसरी सखी—जानती नहीं, हमारे मुहल्लेमें हताशोंकी एक समिति बन गई है? लोगोंने उसका नाम रखा है 'सुषमा-भक्त सम्प्रदाय', उनकी उपाधि है सौषमिक, खुद उनलोगोंने अपना नाम रखा है 'अभागा-गुट'। झंडा भी बनाया है, उसमें टूटे सूपका चिह्न है। शाम होते ही ऐसा शोरगुल शुरू होता है कि कुछ पूछो मत! मुहल्लेके गृहस्थ कह रहे हैं, असेम्बलीमें प्रस्ताव पास कराके छोड़ेंगे। कानून बनाके पकड़ पकड़कर सबको जीवित-समाधि, यानी ब्याह करा देना है। नहीं तो, रातको ये किसीको सोने नहीं देंगे। पब्लिक-न्यूसेन्स है यह।

पहली सखी—इस लोक-हितके काममें तुम सहायता कर सकोगी प्रिया?

दूसरी सखी—दयामयी, लोक-हितैषिता तुममें भी कम नहीं किसीसे। अभागोंके घर भाग्यवती बननेका शौक है तुममें। अन्दाजसे समझ लेती हूं मैं भी। अनु, उस आदमीको पहचानती हो ?

पहली सखी—देखा तो कभी नहीं।

दूसरी सखी—क्षितीश बाबू हैं। कहानियाँ लिखते हैं, काफी नाम है। बाँसुरी कीमती चीजका बाजार-भाव समझती है। मजाक करनेसे कहती है, 'मठाकी हवस दूधसे मिटा रही हूं, मोतीके बदले सीप ही सही।'

पहली सखी—चलो बहन, सब आ गये। दोनोंको एकसाथ देखेंगे तो मजाक उड़ायेंगे। [दोनोंका प्रस्थान

दूसरा दृश्य

बगीचेके एक कोनेमें तीन झाऊके पेड़ चक्र बनाये खड़े हैं। नीचे तख्तेका आसन है। उसपर एकान्तमें क्षितीश बैठा है। अन्यत्र निमन्त्रित लोग हैं, कोई बातचीत कर रहे हैं, कोई घूम-फिर रहे हैं, कोई टेनिस खेल रहे हैं, और कोई खड़े-खड़े टेबिलोंपर सजी-हुई भोज्य वस्तुओंका भोग कर रहे हैं

शचीन—आइ से, तारक, हमारे इलाकेमें वह खूंटा गाड़के जम गया है, इसके बाद 'पर्मानेण्ट टेन्यूर' का दावा करेगा। तब निकालनेमें होगी फौजदारी !

तारक—किसकी बात कह रहे हो ?

शचीन—वो है न, 'नई बात' अखबारका कहानी-लेखक क्षितीश।

तारक—उसकी मैंने एक भी कहानी नहीं पढ़ी, इसीसे असीम श्रद्धा है उसपर मेरी।

शचीन—नहीं पढ़ी तुमने उसकी नई किताब 'बेमेल' ? विलायती-छापके आधुनिक सभ्योंको पछीट-पछीटके निचोड़ा है उसमें।

अरुण—दूर बैठके कलम चलाई है, मनमें डर नहीं था। पास आया

'पर्मानेण्ट टेन्यूर'=स्थायी दखल।

है, अब समझेगा, — पच्चीट-पचीसके सफेद-चिट्ठा हम भी कर सकते हैं। उसके बाद चढ़ा सकते हैं गधेकी पीठपर।

अर्चना—उसकी छूतसे बचना चाहते हो तुमलोग, पर असलमें डर उसीको है तुमलोगोंकी छूतका। देखते नहीं, दूर बैठा-बैठा आइडियाके अण्डे से रहा है?

सतीश—असलमें वह है साहित्य-रथी, और हम हैं पैदल चलनेवाले पियादे, मेल बैठ कैसे सकता है?

शचीन—बटाकिनी हैं स्वयं तुम्हारी बहन बाँसुरी। हाइब्रो दारजिलिंग और फिलिस्टाइन सिलिगुड़ी, दोनोंके बीच वे रेल-लाइन बिछा रही हैं। यहाँ क्षितीशको निमन्त्रण दिया गया है उन्हींकी कारसाजीसे।

सतीश—अच्छा! तब तो हमें अभागेकी आत्माकी शान्तिके लिए भगवानसे कामना करनी पड़ेगी। मेरी बहनको अभी तक पहचाना नहीं बेचारेने।

शैलबाला—तुमलोग चाहे कुछ भी कहो, मुझे लेकिन उसपर दया आती है।

सतीश—किस गुणपर?

शैलबाला—चेहरेपर। सुना है, बचपनमें माकी हँसियापर गिर पड़नेसे बेचारेके माथेमें चोट आई थी, उसीका दाग बना हुआ है माथेपर। इसीसे, तुमलोग जब उसकी दैहिक त्रुटिकी चरचा करते हो तो मुझे अच्छा नहीं लगता।

शचीन—मिस शैली, विधाताने तुम्हें त्रुटिहीन बनाया है इसीसे इतनी करुणा है तुममें। लेकिन, कलिका कोप है जिसके चेहरेपर, वह विधाताकी अकृपाका बदला लेना चाहता है संसारसे। उसके हाथमें अगर बारीक नोकवाली कलम हो तो उससे सौ हाथ दूर रहना ही अच्छा है। अंग्रेज कवि पोपकी बात याद रखना!

शैलबाला—ओऽहो, तुमलोग बहुत ज्यादती करते हो।

सतीश—मिस शैली, उसपर तुम्हारा दरद देखकर तो जी चाहता है

मैं भी अपने माथेपर हँसिया मार लूं। शास्त्रकारोंने कहा है, 'स्त्रियोंका दरद और प्यार दोनों एक ही जगह बसते हैं, ठौर बदलनेमें देर नहीं लगती।'

शचीन—तुम्हारे लिए डरकी कोई बात नहीं, सतीश! अयोग्योंपर ही स्त्रियाँ ज्यादा दया करती हैं।

शैलबाला—मुझे भगाना चाहते हो यहाँसे?

शचीन—सतीश इसी इन्तजारमें है। वह भी जायगा साथ-साथ।

शैलबाला—मुझे गुस्सा न दिलाओ कहती हूं, नहीं-तो तुम्हारा भी भंडा फोड़ दूंगी!

शचीन—सब जान लो, मित्रो, मेरा भी फोड़ने-लायक भंडा है!

सतीश—मिस वाणी, देख रही हो इस शख्सकी हिमाकत! अफवाहको ढकेले लिये जा रहा है तुम्हारी तरफ। बचके न निकल सकीं तो ऐक्सिडेण्ट अनिवार्य है।

लीला—मिस वाणीको सावधान करनेकी जरूरत नहीं। वह जानती है जल्दबाजी करना संकटको न्योता देकर बुलाना है। इसीसे चुपचाप है, भाग्यमें जो होगा सो होगा। एक गीत है न, 'नहीं पकड़में आ सकता हूं'—

गीत

'नहीं पकड़में आ सकता हूं' इस दावेकी फिरी दुहाई,
क्यों सहता वह वीर गुमर यह, बस क्या था, छिड़ गई लड़ाई।
किसपर क्या बीती भिड़न्तमें,
विजय-ध्वजा क्या हुई अन्तमें,
कोई कहता 'जीत हो गई', कोई कहता 'हार',
गप्पें इसपर हाँक रहे हम, बाँध रहे तूमार।

अर्चना—ओह, क्यों तुमलोग वाणीके पीछे पड़ रही हो। अभी रो देगी वह। सुषी बेटी, जा तो, क्षितीश बाबूको बुला तो ला, चाय पीनेको।

लीला—हाय री तकदीर! क्यों झूठमूठको परेशान करोगी, आँखें नहीं हैं, देखती नहीं!

सतीश—क्यों, देखनेकी क्या बात है ?

लीला—वो देखो, बेचारेकी अण्डीकी चादरपर कैसा बड़ा स्याहीका दाग लगा हुआ है ! मनमें सोचते होंगे कि छिपा लिया है, पर दागवाला कोना लटक पड़ा है, इसका होश ही नहीं बेचारेको ।

सतीश—तुम्हारी भी क्या आँखें हैं !

लीला—बम-केसकी तलाशीके लिए पुलिस बगैर आये किसकी मजाल है जो उन्हें वहाँसे हिलाये !

सतीश—मुझे लेकिन डर लगता है, किसी दिन बाँसुरी उस जखमी आदमीसे ब्याह करके घरमें कहीं 'अतुराश्रम' न खोल बैठे !

लीला—क्या कहते हो जिसका ठीक नहीं, बाँसुरीके लिए डर ! तो सुनो, एक किस्सा सुनाऊं, डर जाता रहेगा । मैं मौजूद थी वहाँ ।

शचीन—क्या व्यर्थ बैठे ताश खेल रहे हो तुमलोग ! यहाँ आओ, कहानी-लेखकपर कहानी हो रही है ! हाँ, शुरू करो ।

लीला—सोमशंकर हाथसे निकल जानेके बाद बाँसुरीको शौक चर्राया नखी-दन्ती जैसे किसी लेखकको पालनेका । अचानक देखा कि कहींसे एक कोरे-कच्चे ठोस साहित्यिकको जुटा लाई है । उस दिन उत्साह पाकर हजरत अपनी एक नई रचना सुनाने आये थे । जयदेव-पद्मावतीको लेकर ताजा कहानी लिखी थी । जयदेव दूरसे प्रेम करते थे रानी पद्मावतीको । राज-बधूका जैसा रूप था वैसा ही बनाव-शृंगार, और वैसी ही विद्या । यानी, इस युगमें जन्म लेती तो वह होती ठीक तुम्हारी ही जैसी श्रीमती शैली ! इधर जयदेवकी स्त्री थी सोलहो-आना ग्रामीण, उसकी भाषामें थी गन्दे तालाबकी बदबू, और व्यवहार सबके सामने कहने-लायक नहीं, ऐसी-ऐसी वीभत्स प्रवृत्तियाँ थीं उसमें कि डैश और डॉट दे-देकर भी उनका उल्लेख नहीं किया जा सकता । लेखकने अन्तमें खूब गहरी स्याहीके दाग लगाकर साबित कर दिया कि जयदेव 'स्नॉब' है और पद्मावती खोटा-सिक्का, असली सोना है तो एकमात्र मन्दाकिनी । बाँसुरी कुरसी छोड़कर उठ खड़ी हुई, जोरसे चीखकर बोल उठी,

---

'स्नॉब'=भद्रता अनुकरण करनेवाला गँवार ।

'मास्टरपीस!' धन्य है लड़कीको। पाखंड भी कैसा, बिलकुल ठेठ 'सब्लाइम'!

शचीन—सुनके बेचारा पिचककर चपटा हो गया होगा शायद!

लीला—बिलकुल उलटा। छाती फूल उठी। बोला, 'श्रीमती बाँसुरी, मिट्टी खोदनेकी कुदालको मैं 'खनित्र' नाम देकर शुद्ध नहीं करता, उसे कुदाल ही कहता हूँ।' बाँसुरी बोल उठी, 'तुम्हारा खिताब होना चाहिए, नवीन साहित्यका पूर्णचन्द्र, कलङ्कगर्वित।' उसके मुंहसे जब बात निकलती है तो फिर आतशबाजी-सी छूटने लगती है!

शचीन—यह भी उस शख्सके गलेसे उतर गया? कहीं अटका नहीं?

लीला—जरा भी नहीं। चायके प्यालेमें चम्मच हिलाता-हुआ सोचने लगा, चकित कर दिया है, अबकी बार मुग्ध कर दूँगा। बोला, 'श्रीमती बाँसुरी, मेरी एक थ्योरी है। देख लीजियेगा, किसी दिन लैबोरेटरीमें वह सिद्ध हो जायगी। स्त्रियोंके जैव-कणोंमें जो एनर्जी रहती है वह व्याप्त है समस्त पृथ्वीकी मिट्टीमें। नहीं-तो पृथ्वी बंध्या होती।' हमारे सरदार नेकीने सुनते ही आँखें फाड़ते-हुए कहा, 'मिट्टीमें! आप कहते क्या हैं क्षितीश बाबू! महिलाओंको मिट्टी न कीजिये, मिट्टी तो पुरुष हैं। पंच-भूतके खानेंमें औरतोंका अगर कहीं स्थान है तो वह पानीमें। नारीके साथ वारिका मेल बैठता है। स्थूल मिट्टीमें वह सूक्ष्म होकर प्रवेश करती है; कभी आकाशसे उतरती है वर्षाके रूपमें, कभी मिट्टीके नीचेसे निकलती है फव्वारेके रूपमें, कभी जम जाती है बरफमें, कभी झरने लगती है झरनेमें।' कुछ भी कहो, शैली बहन, बाँसुरी न-जाने कहाँ-कहाँसे बातें जुटा लाती है भगीरथकी गंगाकी तरह कि जिससे ऐरावत हाथी तक हाँफने लगे!

शचीन—तो क्षितीश उस दिन भीगके कीचड़ हो गया होगा, क्यों?

लीला—बिलकुल! फिर बाँसुरीने मेरी तरफ मुड़कर कहा, 'तुमने तो एम०एस-सी०में बायोकेमिस्ट्री ली थी, सुन लिया न? विश्वमें रमणीकी रमणीयता जिस-अंशमें है उसे काटके फाड़के जलाके पीसके हाइड्रोलिक प्रेससे दलके सल्फ्युरिक ऐसिडसे गलाके तुम्हें रिसर्चमें लग जाना चाहिए।' उसकी

मास्टरपीस'=सर्वोत्कृष्ट कृति। 'सब्लाइम'=अद्भुत-रसोद्दीपक।

शरारत तो देखो, मैंने कभी भूलके भी बायोकेमिस्ट्री नहीं ली। अपने पालतू जीवको नचानेकी चतुराई तो देखो! इसीसे तो मैं कहती हूँ, डरकी कोई बात ही नहीं ; स्त्रियाँ जिसे गालियाँ देती हैं उससे भी ब्याह कर सकती हैं, किन्तु जिसे व्यंग्यसे मारती हैं उससे 'नेव-नेवच'। अन्तमें बेवकूफने क्या कहा जानते हो, 'आज स्पष्ट समझ गया, पुरुष वैसे ही नारीको चाहता है जैसे मरुभूमि चाहती है पानीको, मिट्टीके भीतरकी मूक भाषाको उद्भिद कर डालनेके लिए।' इतनी हँसी, इतनी हँसी मैं, कि कुछ पूछो मत!

तारक—तुम तो कह चुकीं, अब मेरी सुनो। मैंने एक दिन क्षितीशके थिगली-शुदा चेहरेपर जरा मजाक छेड़ा था। बाँसुरी चटसे कह उठी, 'देखो लाहिड़ी, उनका चेहरा मुझे पॉजिटिव्ली बहुत अच्छा लगता है।' मैंने आश्चर्यके साथ कहा, 'तब तो उनका चेहरा विशुद्ध मॉडर्न आर्ट है! *समझनेमें धोखा हो जाता है।'* उसके साथ भला बातोंमें कौन जीत सकता है ; कह उठी, 'विधाताकी तूलिकामें असीम साहस है। जिसे वे अच्छा-लगने-लायक करना चाहते हैं उसे सुन्दर-लगने-लायक बनानेकी जरूरत ही नहीं समझते। हमेशा वे साधारण-लोगोंकी पत्तलोंमें ही मिठाई बखेरा करते हैं।' बाइ जोव्, बारीकी इसीका नाम है!

शैलबाला—और क्या कोई चरचा ही नहीं तुमलोगोंमें? क्षितीश बाबू सुनेंगे तो क्या कहेंगे!

सतीश—डरो मत,—वहाँ फव्वारा छूट रहा है, हवा उलटी तरफ है, सुनाई नहीं देगा।

अर्चना—अच्छा, तुमलोग ताश खेलो, टेनिस खेलने जाओ, तब तक मैं उस आदमीसे निपट आती हूँ जाकर।

अर्चना प्लेटमें नाश्ता रखकर क्षितीशके पास जाती है। दोहरे गठनका शरीर है क्षितीशका, पहनावेमें कुछ लापरवाही है, खुश चेहरा है, उमर पश्चिमकी ओर एक डिग्री ढुली है

अर्चना—क्षितीश बाबू, हमलोगोंसे अलग छिटककर एक कोनेमें आ बैठे हैं इसका मतलब तो थोड़ा-बहुत समझमें आता भी है, पर चायकी टेबिलको

अस्पृश्य क्यों समझ लिया ? निराकार आइडियामें तो आपलोग अभ्यस्त हैं, निराहार भोजनमें भी वही बात है क्या ? हम बंग-नारियोंपर जिधरकी साहित्य-सेवाका भार पड़ा है, कमसे कम उधर तो आपलोगोंकी जठराग्निका ही निवास है।

क्षितीश—देखो, हम जुटाते हैं रसात्मक वाक्य, उसपर बहस छिड़ा करती है ; और आपलोग देती हैं रसात्मक वस्तु, उसे ग्रहण करनेमें कोई मतभेद ही नहीं पाया जाता।

अर्चना—क्या खूब ! मैं जब तश्तरीमें मिठाई लगा रही थी तब आप वाक्य बनानेमें लगे हुए थे मालूम होता है। सात जन्म उपासी रहनेपर भी मेरे मुंहसे ऐसी मजी-हुई बात नहीं निकलती। खैर, जाने दीजिये, परिचय नहीं है, फिर भी चली आई आपके पास, कुछ खयाल न कीजियेगा। परिचय देने लायक विशेष-कुछ है भी नहीं। बालीगंजसे टालीगंज जानेका भ्रमण-वृत्तान्त भी किसी मासिकपत्रमें आज तक नहीं छपवाया। मेरा नाम है अर्चना। वो जो अपरिचित छोटी-सी लड़की चोटी लटकाये फिर रही है, मैं उसकी मात्र एक अप्रसिद्ध काकी हूं।

क्षितीश—अब तो मुझे भी अपना परिचय—

अर्चना—आपका परिचय ! मुझे आपने देहाती समझ लिया क्या ? स्यालदह स्टेशनपर क्या गाइड रखना पड़ता है चिल्लाकर जतानेके लिए कि कलकत्ता-शहर राजधानी है ! अभी परसों ही तो पढ़ा है आपका 'बेमेल' उपन्यास। हँसते-हँसते लोटपोट हो गई मैं तो। यह क्या ! प्रशंसा सुननेमें अब भी आप शरमाते हैं ? खाना बन्द क्यों कर दिया ? अच्छा, सच बताइयेगा, अपने घरके किसीको लक्ष्य करके लिखा है न ? नहीं-तो ऐसी अद्भुत सृष्टि भला कैसे सम्भव हो सकती है ! खासकर, जिस जगह मिस्टर किसेन गप्टा बी०ए० कैण्टबने मिस लैटिकाके ब्लाउजमें पीछेसे अंगूठी डालकर खानातलाशीका दावा करके शोर मचा दिया उस जगह पढ़कर मेरी सहेलियोंने क्या कहा जानते हैं, सबकी सब बोल उठीं, 'मैचलेस, – हमारे साहित्यमें ऐसे वर्णनकी दियासलाई नहीं मिल सकती, जली-हुई सींक भी नहीं !'

आपकी रचना अत्यन्त रियलिस्टिक है क्षितिश बाबू ! डर लगता है आपके सामने खड़े होनेमें ।

क्षितीश—हम दोनोंमेंसे कौन ज्यादा भयंकर है इसका विचार करेंगे विधाता-पुरुष ।

अर्चना—नहीं, मजाक नहीं । समोसा खतम कीजिये । आप उस्ताद हैं, मजाकमें आपसे पार पाना मुश्किल है । मोस्ट इण्टरेस्टिंग है आपका उपन्यास । ऐसे आदमी कहीं देखनेमें नहीं आते । क्या नाम है उस लड़की का, जो बात-बातमें हाँफ जाती है, कहती है, 'माइ आईज, ओ गॉड !'—उसने बेचारे उस झेंपू लड़केका संकोच दूर करनेके लिए नालेमें मोटर खूब पड़की । उसने सोचा होगा, मिस्टर सैण्डेलको वह दोनों हाथोंसे उठाकर पतितोद्धार करेगी । सो तो हुआ नहीं, सैण्डेलके हाथमें हो गया कम्पाउण्ड-फ्रैक्चर ! कैसा ड्रामाटिक है, रियलिज्मका चरम ! प्यारकी ऐसी जबरदस्त आधुनिक पद्धति वेदव्यासको नहीं मालूम थी । सोचिये जरा, सुभद्राका कितना बड़ा चान्स मारा गया, और अर्जुनकी भी कलाई बच गई ।

क्षितीश—आप तो कम मॉडर्न नहीं मालूम होतीं ! मुझ जैसे निर्लज्जको भी लज्जित कर सकती हैं ।

अर्चना—दुहाई है क्षितीश बाबू, विनय न दिखाइये । भला आप, और निर्लज्ज ! मारे लज्जाके 'सन्देश' तक तो गलेसे उतर नहीं रहा । कलमकी बात दूसरी है ।

लीला (कुछ दूरसे)—अर्चना-मौसी, वक्त हो गया, बुलाहट हो रही है ।

अर्चना (मन ही मन)—लीला, अधमरा तो कर डाला है, बाकीका तेरे हाथ है । [अर्चनाका प्रस्थान

लीला साहित्यमें फर्स्ट-क्लास एम० ए० डिग्री प्राप्त करके सायन्स पढ़ रही है । छरछरी देह है, हँसी-मजाक करनेमें पैनी, बनाव-ठनावमें निपुण, और कनखियोंसे देखनेकी आदत भी है ।

लीला—क्षितीश बाबू, नमस्कार । आप 'सर्वत्र पूज्यंत'के दलके ठहरे ! छिपके जायेंगे कहाँ ? पुजारी आपको ढूँढ़ ही लेते हैं, अपनी गरजसे ।

ऑटोग्राफकी नोट-बुक लाई हूँ। ऐसा मौका फिर कब मिलेगा ! – क्या लिखा, देखूँ ?–

'जो और-सबोंके समान नहीं
उसकी मार और-सबोंके ही हाथ है ।'

अद्भुत, किन्तु, पैथेटिक ! मारते हैं ईर्षासे। याद रखियेगा, जो छोटे हैं उनकी भक्तिका ही एक इडियम है 'ईर्षा', मार है उनकी पूजा।

क्षीतीश—आखिर वाग्वादिनीकी जातकी ठहरीं, – अपनी बातोंसे दंग कर दिया आपने।

लीला—आपलोग तो वाचस्पतिकी जातके हैं। मैंने जो कहा है वह कोटेशन है, पुरुषोंकी लिखी-हुई पुस्तकका। आपलोगोंकी प्रतिभा है वाक्य-रचनामें, और हमारा नैपुण्य है वाक्य-प्रयोगमें। आपकी पुस्तकके हर पन्नेमें 'ऑरिजिनैलिटी' है। उस दिन आप ही की एक किताब पढ़ रही थी। ब्रीलियण्ट लिखी है ! उसमें एक लड़की है, जब उसने देखा कि पतिका मन किसी दूसरीपर है तो उसने बनाकर एक चिट्ठी लिखी; उसमें उसने साबित कर दिया कि वह प्यार करती है पड़ोसी वामनदासको। साइकॉलॉजीकी अद्भुत पहेली है। समझना मुश्किल है कि यह उसकी पतिके मनमें ईर्षा पैदा करनेकी तरकीब थी या उसे छुटकारा देनेकी उदारता !

क्षितीश—नहीं नहीं, आपने उसे—

लीला—विनय न दिखाइये। ऐसा ऑरिजिनल आइडिया, ऐसी मजी हुई चटकीली भाषा, ऐसा चरित्र-चित्रण आपकी और-किसी भी रचनामें नहीं देखी। उसमें आप अपनी समस्त रचनाओंको भी लाँघ गये हैं। उसमें न तो आपकी पुरानी शैलीके दोष हैं, और न—

क्षितीश—आप गलती कर रही हैं। 'रक्तजवा' पढ़ी होगी आपने, वह मेरी नहीं, यतीन्द्र घटककी है।

लीला—अच्छा ! छिछि, ऐसी गलती भी हुई मुझसे, माफ कीजियेगा, अज्ञानवश दोष हो गया मुझसे। आपके लिए एक प्याला चाय भेजती हूँ, नाराज होकर वापस न कर दीजियेगा। [लीलाका प्रस्थान

राजा सोमशंकरका प्रवेश

रघुवंशी गोरा वदन 'शालप्रांशु महाभुजः' धूपमें तपकर कुछ म्लान हो गया है। भारी चेहरा है, दाढ़ी-मूंछ साफ, पहनावेमें है चूड़ीदार सफेद पाजामा, चुन्नटदार सफेद अचकन, पंजाबी तरीकेका साफा, और पैरोंमें हैं सूंड़दार सफेद पंजाबी जूते। जैसा शरीका वजन है वैसा ही कण्ठस्वर।

सोमशंकर—क्षितीश बाबू, बैठ सकता हूं?

क्षितीश—जरूर, जरूर।

सोमशंकर—मेरा नाम है सोमशंकर सिंह। मैंने आपका नाम तो सुना था मिस बाँसुरीसे, आज दर्शन हो गये। मिस बाँसुरी आपकी बहुत भक्त हैं।

क्षितीश—समझना मुश्किल है। कमसे कम भक्तिको खालिस नहीं कहा जा सकता। उनमेंसे फूलका अंश झड़ जाता है, किन्तु काँटे हरवक्त चुभते रहते हैं।

सोमशंकर—मेरा दुर्भाग्य है कि आपकी किताबें पढ़नेके लिए वक्त नहीं निकाल पाता। फिर भी, आप जो आज इस विशेष अवसरपर यहाँ पधारे हैं, इसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ। कभी पधारियेगा हमारे शम्भूगढ़में, उम्मीदमें रहूँगा। जगह आप-जैसे साहित्यिकोंके लिए देखने-काबिल है।

बाँसुरी (पीछेसे आकर)—गलत कह रहे हो, शंकर, जो आँखोंसे देखा जाता है उसे ये नहीं देखते। भूतके पैरोंकी तरह इनकी आँखें पीछेकी तरफ हैं। खैर, तुम चिन्तित न होना, शंकर। यहाँ आज मेरा निमन्त्रण नहीं था। माने लेती हूँ, यह मेरे ग्रहकी गलती नहीं, गृहकर्ताकी ही गलती है। भूल-सुधार करने चली आई। आज सुषमाके साथ तुम्हारा एन्गेजमेण्टका दिन है, फिर भला मैं उसमें न रहूँ, यह हो ही नहीं सकता। बगैर न्योतेके चली आई इससे खुश नहीं हुए?

सोमशंकर—बहुत खुश हुआ हूँ, इसमें कहनेकी क्या बात!

बाँसुरी—इसी बातको अच्छी तरह कहनेके लिए जरा बैठ जाओ यहाँ। क्षितीश, उस चम्पाके पेड़के नीचे कुछ देर अद्वितीय होकर बैठो तो जरा। पीठ-पीछे मैं तुम्हारी बुराई नहीं करूँगी। [क्षितीशका प्रस्थान

—शंकर, वक्त ज्यादा नहीं है, कामकी बात करके अभी-तुरत मैं तुम्हें छुट्टी दे दूँगी। तुम्हारे नये एनूगेजमेण्टके रास्तेमें पुराना जंजाल कुछ जमा हुआ है। साफ कर देनेसे रास्ता सुगम हो जायगा। यह लो।

बाँसुरीने रेशमके बटुएमेंसे एक पन्नोंका हार, हीरोंका एक ब्रासलेट और मोतियोंका जड़ाऊ ब्रोच निकालकर दिखाया, और फिर उन्हें बटुएमें बन्द करके बटुआ सोमशंकरकी गोदमें पटक दिया।

सोमशंकर—बाँसुरी, तुम तो जानती हो, ठीक मनकी बात मेरे मुँहसे नहीं निकलती। जो मुझसे कहते नहीं बना उसके मानी तुम खुद समझ लेना।

बाँसुरी—सब बातें मेरी जानी-हुई हैं, मानी मैं समझती हूँ सब। अब जाओ, वक्त हो गया।

सोमशंकर—जाओ मत, बाँसुरी! गलत न समझो मुझे। मेरी आखिरी बात सुन जाओ। मैं जंगलका आदमी हूँ। शहरमें आकर कालेजमें पढ़नेके आरम्भमें पहले-पहल तुमसे भेंट हुई। वह दैवका खेल था। तुम्हींने मुझे आदमी बना दिया, उसकी कीमत किसी भी तरह नहीं चुकाई जा सकती। तुच्छ हैं ये गहने।

बाँसुरी—मेरी भी अन्तिम बात सुन लो, शंकर। मेरी तब पहली उमर थी, उसमें तुम आ पहुँचे नवजाग्रत-अरुण दिगन्तमें। टेर-टेरकर जिसे तुम प्रकाशमें लाये, उसे लो या न लो, मैंने खुद तो उसे पा लिया। आत्म-परिचय तो हुआ। बस, दोनों पक्षोंका हिसाब साफ हो गया। अब दोनों ही उऋण होकर अपने-अपने रास्ते चल दिये। और क्या चाहिए?

सोमशंकर—बाँसुरी, अगर मैं कुछ कहना चाहूँ तो बेवकूफकी तरह ही कहूँगा। जानता हूँ, अपनी असल बात मैं कभी भी न कह सकूँगा। अच्छा तो रहने दो। इस तरह चुप होकर मेरे मुँहकी तरफ क्यों देख रही हो? मालूम होता है, अपनी इन आँखोंसे तुम मुझे लुप्त कर दोगी।

बाँसुरी—मैं गौरसे देख रही हूँ सौ वर्ष आगेके युगान्तकी ओर। उसमें मैं नहीं हूँ, तुम नहीं हो, आजके दिनका और-कोई भी नहीं है उसमें! गलत

समझनेकी बात कह रहे हो ! उस गलत-समझनेकी छातीपरसे चला जायगा कालका रथ ! धूल हो जायगा सब, उस धूलपर बैठे खेला करेंगे तुम्हारे नाती-पोते । उस निर्विकार धूलकी जय हो !

सोमशंकर—इन गहनोंके लिए कहीं भी जगह नहीं रही,-जाने दो फिर ।

[बटुआ फव्वारेके पानीमें फेंक दिया ।

सुषमाकी बहन सुषीमाका प्रवेश

फ्राक पहने है, आँखोंमें चश्मा है, पीछेकी ओर लम्बी चोटी लटक रही है, जल्दी-जल्दी चलनेवाली ग्यारह सालकी लड़की है ।

सुषीमा—संन्यासी-बाबा आये हैं, शंकर-दादा । तुम्हें बुला रहे हैं सब-कोई । – तुम नहीं चलोगी, बाँसुरी-जीजी !

बाँसुरी—चलूँगी क्यों नहीं, चलनेका वक्त तो होने दो पहले ।

[सोमशंकर और सुषीमाका प्रस्थान

—सुनो क्षितीश, यहाँ आओ । आँखें हैं ? दिखाई देता है कुछ-कुछ ?

क्षितीश—रंगभूमिके बाहर हूँ मैं । कानोंमें आवाज आ रही है, रास्ता नहीं सूझ रहा ।

बाँसुरी—अपने उपन्यासोंमें न्यु-मार्केटका रास्ता खोल दिया है अपने जोरसे, अलकतरा उँड़ेलकर । यहाँ पुतली-नाचका रास्ता निकालनेके लिए तुम्हें भी ऑफिशियल-गाइड चाहिए ! लोग हँसेंगे, इसका भी होश है !

क्षितीश—हँसने दो । रास्ता न मिले तो न सही, ऐसी 'गाइड' तो मिल गई !

बाँसुरी—मजाक ! सस्ती मिठाईका रोजगार ! इसके लिए नहीं बुलाया तुम्हें । सत्य देखना सीखो, सत्य लिखना सीख जाओगे । चारों तरफ बहुतसे आदमी हैं, हैवान भी बहुतसे हैं, गौरसे देखोगे तो सब दिखाई देंगे । देखो, देखो, अच्छी तरह देखो !

क्षितीश—न देखूँ तो क्या है, तुम्हारा इससे क्या आता-जाता है ?

बाँसुरी—मैं खुद लिखना जो नहीं जानती, क्षितीश ! आँखोंसे देखती

हूं, मनमें समझती हूं, कण्ठ बन्द है, सब व्यर्थ हो जाता है जो ! इतिहास कहता है, किसी दिन यहाँके कारीगरोंके अंगूठे काट दिये गये थे। मैं भी कारीगर हूँ, विधाताने मेरा अंगूठा काट लिया है। खरीदे-हुए मालसे काम चलाती हूं, परखकर देखना पड़ता है उसे, सच्चा है या झूठा ! तुमलोग लेखक हो, हम-जैसी कलम-हीनोंके लिए ही कलमका काम करना है तुम्हें।

सुषमाका प्रवेश

देखते ही आश्चर्य होता है। चेहरा है सतेज सबल और मजबूत। रंग सुनहला-गोरा, हलके रंगके चम्पा-फूल जैसा; ललाट नाक ठोड़ी कपोल सब कुंदे-हुए सोने-से चमक रहे हैं।

सुषमा (क्षितीशको नमस्कार करके)—बाँसुरी, यहाँ कोनेमें छिपी-हुई क्यों बैठी हो ?

बाँसुरी—कोनेमें छिपे साहित्यिकको बाहर निकालनेके लिए। खानके सोनेको सानपर चढ़ाकर मैं उसकी चमक निकाल सकती हूं, पहलेसे ही हाथमें यश है। जवाहरातको कीमती बना देता है जौहरी, दूसरोंके भोगके लिए। क्यों, ठीक है न ? सुषी, ये ही हैं क्षितीश बाबू, जानती होगी शायद।

सुषमा—जानती क्यों नहीं ! कल-परसों ही तो पढ़ी है इनकी कहानी 'बेवकूफकी बुद्धि'। अखबारोंमें क्यों उसके खिलाफ इतनी ऊल-जलूल टीका-टिप्पणी निकल रही है, कुछ समझमें नहीं आता !

क्षितीश—यानी, पुस्तक ऐसी क्या अच्छी है जिसपर इतना ऊल-जलूल लिखा जा सकता है ?

सुषमा—ऐसी पैनी बातें कहनेका भार है बाँसुरी और मेरी फुफेरी बहन लीलापर। आप जैसे लेखकोंकी रचनाकी समालोचना करनेमें मुझे तो डर लगता है, क्योंकि उससे समालोचना हो जाती है अपनी विद्या-बुद्धिकी। बहुतसी बातें तो मैं समझ ही नहीं पाती। बाँसुरीकी कृपासे आपसे परिचय हो गया, जरूरत पड़नेपर समझ लिया करूँगी।

बाँसुरी—क्षितीश बाबू नेचरल हिस्ट्री लिखते हैं कहानीके ढंगपर। जहाँ

जानकारीका अभाव होता है वहाँ चटकदार रंग लेप देते हैं कूंचीसे। रंग होता है समुद्र-पारका। देखकर दया आ गई। मैंने कहा, 'जीव-जन्तुकी साइकॉलॉजीकी खोजमें गुफा-गह्वरमें जानेका खर्च अगर न उठा सकें, तो कमसे कम जुओलॉजिकल पिंजड़ेमें झाँकनेमें दोष क्या है?'

सुषमा—इसीलिए इन्हें यहाँ लाई हो क्या?

बाँसुरी—कैसे कहूं इस पाप-मुखसे? लाई तो इसीलिए हूं। क्षितीश बाबूकी कलम पक्की है, माल-मसाला भी पक्का होना चाहिए। यथासाध्य मसाला जुटानेकी मजूरी कर रही हूं।

सुषमा—क्षितीश बाबू, जरा फुरसत निकालकर हमारे उधर भी आइयेगा। मेरी बहुतसी सहेलियाँ आपकी पुस्तकें खरीद लाई हैं, आपके हस्ताक्षर करानेके लिए। पर हिम्मत नहीं होती आपके पास आनेकी। बाँसुरी, इन्हें अकेलेमें घेरकर तुम क्यों श्राप ले रही हो सबका?

बाँसुरी (जोरसे हँसकर)—ऐसा श्राप ही तो स्त्रियोंके लिए वर है। तुम तो जानती हो। जय-यात्रामें स्त्रियोंके लूटके मालपर पड़ोसिनोंको ईर्षा होती है।

सुषमा—क्षितीश बाबू, अन्तमें फिर एक बार अर्जी पेश किये जाती हूं। सीमा-रेखा पार होनेकी स्वाधीनता अगर हो तो आइयेगा एक बार हमारी तरफ। [सुषमाका प्रस्थान

क्षितीश—कैसी आश्चर्यमयी है देखनेमें! भारतीय नहीं मालूम होती। जैसे एथीना हो, जैसे मिनर्वा हो, जैसे ब्रुनहिल्ड हो!

बाँसुरी (ठहाकेसे हँसकर)—हाय रे हाय, चाहे कितने ही बड़े दिग्गज पुरुष क्यों न हों, सबके अन्दर आदिम युगका बर्बर मौजूद रहता ही है। पक्के हाड़के रियलिष्ट होनेकी डींग मारते हो, मुंहसे कहते हो कि जादू-मन्तर नहीं मानते। एक ही कटाक्षमें जादूका मन्तर चल गया न आखिर! एकदम उड़ा ले गया माइथॉलॉजीके युगमें। मैं तो देखती हूं, अब भी मन तुम्हारा 'परियोंकी कहानी' जकड़े पड़ा है। उलटे स्रोतमें खींचातानी करके मनके ऊपरके चमड़ेको कर डाला है कड़ा। समझ गई मैं, दुर्बल होनेसे ही बलकी इतनी बड़ाई किया करते हो।

क्षितीश—इस बातको मैं मानता हूं; एक बार नहीं, हजार बार, और सिर झुकाकर। पुरुष-जाति निस्सन्देह-रूपसे दुर्बल जाति है।

बाँसुरी—और फिर भी तुमलोग रियलिस्ट हो! रियलिस्ट हैं स्त्रियाँ। चाहे कितने ही बड़े स्थूल पदार्थ क्यों न होओ, तुमलोगोंको हम वही समझती हैं जो तुम हो। कीचड़में डूबे जलहस्तीको लेकर ही अगर घर-गृहस्थी करना पड़े तो उसे हम 'ऐरावत' कहके रोमान्स नहीं बनातीं। तुम्हारे चेहरोंपर रंग नहीं पोततीं। खुद अपने मुंहपर भले ही पोत लें। 'परियोंकी कहानी' के बच्चे हो तुम सब! अच्छा काम मिला है औरतोंको! मरदोंका मन बहलाना, रिझाना। फूट गई तकदीर। एथीना! मिनर्वा! क्या बात है! अजी रियलिस्ट महाशय, राह चलते जिन्हें देखा है पानवालियोंकी दूकानपर, अपने मनमें जिनकी मूर्ति गढ़ी है काली मिट्टीके चोथसे, वे ही बन-ठनके घूम-फिर रही हैं एथीना, मिनर्वा!

क्षितीश—बाँसुरी, वैदिक-युगमें ऋषियोंका काम था मन्त्र पढ़के देवताओं को रिझाना; और जिन्हें वे रिझाते थे उनपर भक्ति भी करते थे। तुम लोगोंकी भी ठीक वही दशा है। भोंदू पुरुषोंको रिझाती भी हो तुमलोग, और पादोदक लेनेमें भी कोई कसर नहीं छोड़तीं। इसी तरह मिट्टीमें मिला दिया इस जातिको।

बाँसुरी—सच है, बिलकुल सच है। इन भोंदुओंको हम-ही-लोग चढ़ाती हैं ऊंचे मंचपर, अपने आँसुओंसे उनके कीचड़-शुदा पाँव धोती हैं, अपने अपमानकी हद कर देती हैं; और उन्हें जितना रिझाती हैं उससे हजार-गुना खुद रीझती हैं।

क्षितीश—अब उपाय?

बाँसुरी—लिखो, सच्चे बनकर सच्चा लिखो, कड़े होकर कड़ा लिखो। मन्त्रोंकी जरूरत नहीं, माइथॉलॉजीकी जरूरत नहीं, मिनर्वाका नकाबी चेहरा खोलके फेंक दो। ओठ रंगकर तुम्हारी पानवालियाँ जो मन्तर बखेरा करती हैं, तुम्हारी यह आश्चर्यमयी नारी भी भाषा बदलकर वही मन्तर बखेर रही है। सामने पड़ गया राह-चलता एक राजा, चटसे शुरू कर दिया अपना जादू।

किस लिए ? पैसोंके लिए। सुन लो, रुपया-सी चीज माइथॉलॉजी नहीं है, वह बैंककी चीज है, वह तुम्हारे रियलिज्मके खानेमें पड़ती है।

क्षितीश—रुपयोंकी तरफ दृष्टि है, यह तो बुद्धिका लक्षण है ; उसके साथ हृदय भी तो हो सकता है।

बाँसुरी—है जी, हृदय है। ठीक जगह खोजोगे तो पानवालियोंके भी हृदय मिल जायगा। लेकिन मुनाफा एक तरफ होता है और हृदय दूसरी तरफ। जब इतना आविष्कार कर लोगे तभी तुम्हारी कहानी जम उठेगी। पाठिकाएँ घोर आपत्ति करेंगी ; कहेंगी, 'नारियोंको नीचा दिखाया गया है' अर्थात् उनकी मन्त्रशक्तिके प्रति भोंदुओंके मनमें खटका पैदा किया जा रहा है। और, ऊंचे दरजेके पाठक भी गाली देंगे। भला, इस तरह उनकी माइथॉलॉजीका रंग चटका देना ! बना-बनाया खेल चौपट कर देना ! लेकिन डरनेकी कोई बात नहीं, क्षितीश बाबू, रंग जब उड़ जायगा, मन्त्र जब नाकाम हो जायगा, तब भी सत्य टिका रहेगा, शूलकी तरह, शल्यकी तरह।

क्षितीश—श्रीमती सुषमाका वर्तमान पता जान सकता हूं क्या ?

बाँसुरी—पता बताना न होगा, अपनी आँखोंसे ही देख लोगे अगर आँखें होंगी तो। अब चलो उधर। टेनिस-खेल खतम हो चुका। अब आइस्क्रीमकी पारी है। वंचित होनेसे फायदा ! चलो। [दोनोंका प्रस्थान

तीसरा दृश्य

बगीचेका एक किनारा। खानेकी टेबिल घेरे हुए बैठे हैं तारक, शचीन, सुधांशु इत्यादि

तारक—ज्यादती हो रही है संन्यासीके बारेमें। नाम पुरन्दर नहीं है, सभी जानते हैं। असल नाम मालूम पड़ जाता तो बेवकूफोंकी भीड़ हलकी हो जाती। देशी है या परदेशी, इस विषयमें भी मतभेद है। 'धर्म क्या है' पूछनेपर हँसकर कहता है, 'धर्म अभी मरा नहीं है, लिहाजा उसे नामके कोठेमें नहीं ठूँसा जा सकता।' उस दिन देखूँ तो, हजरत अपनी हिमूको

गॉल्फ सिखा रहे हैं। हिमूका जीव किसी कदर गॉल्फकी गोलीके पीछे-पीछे दौड़ सकता है, उससे ज्यादा उसकी दौड़ नहीं; लिहाजा वह भक्तिमें गद्गद हो गई। मिस्टीरियस साज-पोशाकका भी काफी सामान जुटा रखा है उसने। आज मैं उसे एक्सपोज करूंगा सबके सामने, देख लेना।

सुधांशु—यानी साबित कर दोगे कि जो तुमसे बड़ा है वह तुमसे छोटा है।

सतीश—ओऽह्, सुधांशु, मजा मिट्टी न करो। पाकिट बजाकर वह कहना चाहता है, डॉक्युमेण्ट है। निकालने दो न, देखूँ कैसी चीज है वह। लो, सन्यासी भी आ गये। साथमें सभी आ रहे हैं।

पुरन्दरका प्रवेश

उन्नत ललाट है, आँखें जल-सी रही हैं, ओठोंपर है अनुच्चारित अनुशासन। चेहरेका स्वच्छ रंग है पांडुर-श्याम, भीतरसे छिटकती-हुई दीप्तिसे धुला हुआ। दाढ़ी-मूंछ साफ, सुडौल सुगठित मस्तकपर बारीक छंटे-हुए बाल हैं, पैरोंमें जूते नहीं, टसरकी धोती है और बदनपर कत्थई रंगका ढीला कुरता। साथमें हैं सुषमा, सोमशंकर और विभासिनी।

शचीन—संन्यासीजी कहनेमें डर लगता है, – किन्तु चाय पीनेमें दोष क्या है?

पुरन्दर—कुछ नहीं, अगर अच्छी चाय हो। आज रहने दो, अभी तुरन्त निमन्त्रणसे खाकर आ रहा हूँ।

शचीन—आपको, और निमन्त्रण! लञ्चमें जाना पड़ा था क्या? ग्रेट-ईस्टर्नमें वैष्णवोंका महोच्छव?

पुरन्दर—'ग्रेट-इस्टर्न'में ही जाना पड़ा था। डाक्टर विलकॉक्सके पास।

शचीन—डाक्टर विलकॉक्स! किसलिए?

पुरन्दर—वे 'योगवाशिष्ठ' पढ़ रहे हैं।

'ग्रेट ईस्टर्न'=कलकत्तेका प्रसिद्ध अंग्रेजी होटल।

शचीन—ओफ्-हो ! अजी ओ तारक, जरा आगे तो आओ, - क्या तो कह रहे थे तुम ?

तारक—यह फोटोग्राफ आप ही का है न ?

पुरन्दर—इसमें क्या सन्देह ।

तारक—मुगलई लिबास है, सामने पेचवान है, बगलमें यह दाढ़ीवाला कौन है ? साफ मुसलमान मालूम हो रहा है ।

पुरन्दर—रोशनाबादके नवाब हैं, ईरानी वंशके । तुमसे इनका आर्यरक्त विशुद्ध है ।

तारक—आप कैसे दीख रहे हैं ?

पुरन्दर—दीख रहे हैं तुर्कके बादशाह जैसे । नवाब साहब मुझे बहुत चाहते हैं, प्यारसे पुकारा करते हैं मुख्तियार मियाँ, एक थालमें खाना खिलाते हैं । शहजादीकी शादी थी, मुझे भी सजा दिया अपनी पोशाकमें ।

तारक—शाहजादीकी शादीमें 'भागवत' पाठ हुआ था क्या ?

पुरन्दर—नहीं, पोलोका टूर्नामेण्ट था । मैं था नवाब साहबके दलमें ।

तारक—कैसे संन्यासी हैं आप ?

पुरन्दर—ठीक जैसा होना चाहिए । कोई भी उपाधि नहीं, इसलिए सभी उपाधियाँ समानरूपसे प्रयुक्त हो सकती हैं । जन्म लिया है दिगम्बर वेशमें, मरूँगा विश्वाम्बर होकर । तुम्हारे पिता थे काशीमें, हरिहर तत्त्वरत्न, वे मुझे जिस नामसे जानते थे वह नाम मिट चुका है । तुम्हारे बड़े भाई रामसेवक वेदान्तभूषणने कुछ दिन मुझसे वैशेषिक दर्शन पढ़ा था । तुम हो तारक लाहिड़ी, तुम्हारा नाम था बुकू । आज ससुरकी सिफारिशसे तुम कॉक्सहिल साहबके अटर्नी-आफिसमें काम सीख रहे हो । पोशाक बदल गई है तुम्हारी, 'तारक' नामका आद्यक्षर तवर्गसे टवर्गमें चढ़ गया है । सुना है, तुम विलायत जानेवाले हो । 'विश्वनाथके बाहन'पर जरा दया रखना ।

तारक—डॉक्टर विलकॉक्ससे क्या इण्ट्रोडक्शनकी चिट्ठी मिल सकती है ?

पुरन्दर—मिलना असम्भव नहीं ।

तारक—माफ कीजियेगा । [पाँव छूकर प्रस्थान

बाँसुरी—सुषमाकी मास्टरीसे आज इस्तीफा देने आये हैं क्या ?

पुरन्दर—इस्तीफा क्यों देने लगा। एक-और छात्र बढ़ गया।

बाँसुरी—'मुग्ध-बोध' शुरू करायेंगे क्या उसे ? मुग्धताकी गहराईमें जो डूब चुका है, सहसा 'बोधोदय' होनेपर उसकी नाड़ी छूट जायगी।

पुरन्दर (कुछ देर तक बाँसुरीके मुंहकी तरफ देखकर)—वत्से, इसीका नाम है धृष्टता !

[बाँसुरी मुह फेरकर हट जाती है।

विभासिनी—समय हो गया। भीतर सभा बैठ गई, चलिये।

सबका मकानके भीतर प्रवेश

दरवाजे तक जाकर बाँसुरी ठिठककर खड़ी हो जाती है

क्षितीश—तुम नहीं चलोगी भीतर ?

बाँसुरी—सस्ती कीमतका सदुपदेश सुननेका शौक नहीं मुझे।

क्षितीश—सदुपदेश !

बाँसुरी—हाँ। यही तो मौका है। भागनेका रास्ता है बन्द। यानी जालियानवाला-बागकी मार !

क्षितीश—मैं एक बार देख आऊं।

बाँसुरी—नहीं। सुनो, मेरे सवालका जवाब देते जाओ। साहित्य-सम्राट, कहानीका जहाँ मर्म है वहाँ तक पहुँची है तुम्हारी दृष्टि ?

क्षितीश—मेरी हालत तो 'अन्ध-गोलांगुल न्याय'-सी है। मैंने पूंछ पकड़ ली है कसके, खिंचता जा रहा हूं पीछे-पीछे, किन्तु चेहरा अस्पष्ट ही रह गया। कुल-जमा मैंने इतना समझा है कि सुषमा राजासे ब्याह करना चाहती है, पाना चाहती है राजैश्वर्य, किन्तु उसके बदले हाथ देनेको तैयार है, हृदय नहीं।

बाँसुरी—तो सुनो, बताती हूं। सोमशंकर प्रधान नायक नहीं है, इस बातको याद रखना।

क्षितीश—अच्छा ! तो कमसे कम कहानीको घाट तक तो पहुँचा दो।

उसके बाद, तैरके हो सके तो तैरके, नाव मिल गई तो नावसे, किसी-न-किसी तरह उस पार पहुँच ही जाऊंगा ।

बाँसुरी—शायद तुम जानते होगे, पुरन्दर .तरुण-समाजमें बिना-तनखाके मास्टरी करते हैं । परीक्षामें पार लगानेमें अद्वितीय हैं । बड़ा कड़ा चुनाव करके छात्र चुनते हैं । छात्रा पा सकते थे असंख्य, किन्तु चुनावकी पद्धति इतनी जबरदस्त कठिन है कि अब तक एकमात्र मिल पाई है, उसका नाम है श्रीमती सुषमा ।

क्षितीश—छात्राने जिन्हें त्याग दिया है उनकी क्या दशा है ?

बाँसुरी—आत्महत्याकी संख्या कितनी है, अभी तक खबर नहीं मिली । इतना जानती हूं कि उनमेंसे बहुतसे चोंच फाड़े ऊपरको ताक रहे हैं ।

क्षितीश—तुमने अपना नाम नहीं लिखाया चकोरियोंके दलमें ?

बाँसुरी—तुम्हारा क्या खयाल है ?

क्षितीश—मेरा खयाल है चकोरीकी जात ही नहीं तुम्हारी, तुम मिसेज राहुके पदकी उम्मीदवार हो । जिसे लोगी, उसे लुप्त कर दोगी । चोंच फाड़कर ऊपरको ताकना तुम्हारा काम नहीं ।

बाँसुरी—धन्य है ! नर-नारीकी नस पहचाननेमें अव्वल नम्बर हो, गोल्ड-मेडलिष्ट । लोग कहते हैं, नारी-स्वभावका रहस्य-भेद करनेमें स्वयं नारीके सृष्टिकर्ता तक हार मानते हैं, किन्तु तुम हो नारी-चरित्र-चारण-चक्रवर्ती, तुम्हें नमस्कार ।

क्षितीश (हाथ जोड़कर)—वन्दना हो गई, अब वर्णना आरम्भ हो !

बाँसुरी—इतना मैं अन्दाजा न लगा सकी थी कि सुषमा संन्यासीके प्रेममें बिलकुल ही डूब गई है ।

क्षितीश—प्रेम या भक्ति ?

बाँसुरी—चरित्र-विशारदजी, लिख रखो, स्त्रियोंका जो प्रेम भक्तिमें पहुँच जाता है वह उनका प्रेम नहीं, महाप्रयाण है ! वहाँसे वापस आनेका कोई रास्ता ही नहीं । मुग्ध-अभिभूत जो पुरुष उनके समान प्लैटफार्मपर उतरते हैं उन गरीबोंके लिए है थर्डक्लास, बहुत हुआ तो इन्टरमीडियट । सेलून

तो हरगिज नहीं। जो उदासीन स्त्रियोंके मोहके आगे हार नहीं मानते, उनके बाहुपाशके द्विवलयसे बचकर मध्य-गगनमें विचरण करते हैं, स्त्रियाँ अपने दोनों हाथ ऊपरको उठाकर उन्हींको अर्पण करती हैं अपना श्रेष्ठ नैवेद्य। देखा नहीं तुमने, संन्यासी जहाँ स्त्रियोंके हैं वहाँ कितनी भीड़ है!

क्षितीश—होगी। लेकिन इससे उलटा भी देखा है मैंने। एकदम ताजे बर्बरकी तरफ स्त्रियोंका जबरदस्त खिंचाव होता है। पुलकित हो उठती हैं उनके अपमानकी कठोरतापर, उनके पीछे-पीछे वे रसातल तक जानेको राजी हो जाती हैं।

बाँसुरी—उसका कारण है, आखिर अभिसारिकाकी जात ठहरी न! आगे बढ़कर जिसे चाहना पड़ता है उसीकी तरफ उनका पूरा प्रेम होता है। और उनकी उपेक्षा पड़ती है उन्हींपर जिनमें दुराचारी होनेका जोर नहीं या दुर्लभ होने लायक तपस्या नहीं।

क्षितीश—अच्छा, समझ लिया, संन्यासीसे प्रेम करती है वह सुषमा। उसके बाद, आगे?

बाँसुरी—वह क्या प्रेम है! मौतसे भी बढ़कर! कोई संकोच नहीं था, क्योंकि प्यारको वह भक्ति ही समझ रही थी। पुरन्दर जब दूर चला जाता था अपने कामसे, सुषमा तब सूख जाती थी, चेहरा हो जाता था सफेद फक! आँखोंसे जलन निकलती थी, मन उसका शून्य आकाशमें किसीके दर्शनके लिए भटकने लगता था। माको बड़ी-भारी चिन्ता हो गई। एक दिन मुझसे पूछ बैठीं, 'बाँसुरी, बता क्या करूं?' मेरी बुद्धिपर तब उन्हें भरोसा था। मैंने कहा, 'कर क्यों नहीं देतीं पुरन्दरसे ब्याह।' वे तो चौंक पड़ीं; बोलीं, 'ऐसा तो कभी सपनेमें भी नहीं सोचा।' तब-फिर मैं खुद ही गई पुरन्दरके पास। जाकर सीधा ही कह दिया, 'आप जरूर जानते हैं कि सुषमा आपको चाहती है, उससे ब्याह करके संकटसे उसे उद्धार कीजिये।' इस तरह देखा उसने मेरे मुंहकी तरफ कि मेरा खून पानी हो गया। गम्भीर स्वरमें बोला, 'सुषमा मेरी छात्रा है, उसका भार मुझपर है; और मेरा भार तुम्हारे ऊपर नहीं।' पुरुषकी तरफसे इतना बड़ा धक्का अपने जीवनमें मैंने यह पहले-

पहल ही खाया। मेरी धारणा थी, सभी स्त्रियाँ सभी पुरुषोंके मुंह लग सकती हैं अगर उनमें निःसंकोच साहस हो। देखा कि दुर्भेद्य दुर्ग भी है। स्त्रियोंके लिए सबसे बड़ा खतरा है ऐसे बन्द किवाड़ोंके सामने; बुलावा भी आता है वहींसे और कपाल भी फूटता है वहींपर।

क्षितीश—अच्छा, बाँसुरी, सच बताना, संन्यासीने तुम्हारे मनको भी खींचा था या नहीं ?

बाँसुरी—देखो, साइकॉलॉजीके अति-सूक्ष्म तत्त्वके घरमें ताला लगा रहता है। उसका बन्द दरवाजा न खोलना ही अच्छा है। बाहर ही काफी गड़बड़ी है, उसीको सम्हाल लिया जाय तो बहुत है। आज जहाँ तक सुना उसके बादका वर्णन मिलेगा एक चिट्ठीमें। पीछे दिखाऊँगी।

क्षितीश—जरा भीतर नजर दौड़ाकर तो देखो। पुरन्दर अंगूठी बदलवा रहा है। खिड़कीमेंसे सुषमाके चेहरेपर पड़ रही है धूपकी रेखा। चुपचाप स्तब्ध-हुई बैठी है, शान्त चेहरा है, आँखोंसे आँसू ढलक रहे हैं। बरफके पहाड़पर मानो सूर्यास्त हो रहा है, जैसे गल-गलके झर रहा हो झरना!

बाँसुरी—सोमशंकरके चेहरेकी तरफ देखो, – सुख है या दुःख, बन्धनमें बँध रहा है या उसे तोड़ रहा है ? और पुरन्दर, मानो वह उस सूर्यका प्रकाश है जिसका वैज्ञानिक तत्त्व है लाखों योजना दूर। सुषमाके मनमें जो अग्निकाण्ड चल रहा है उसके साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं। और मजा यह कि उसे घेरकर एक जलती-हुई तसवीर बना दी गई !

क्षितीश—सुषमाके प्रति संन्यासीका मन अगर इतना ही निर्लिप्त है तो फिर उसने उसीको क्यों चुना ?

बाँसुरी—आइडियलिस्ट जो ठहरा। ओःफ् ! इतना बड़ा भयंकर जीव शायद ही कोई हो दुनियामें। अफरीकाके असभ्य लोग आदमीको मारते हैं उसे खुद खानेके लिए। ये लोग उनसे कहीं ज्यादा मारते हैं; और खाते नहीं भूख लगनेपर भी ! बलि चढ़ाते हैं कतारकी कतार, – चंगेजखाँसे भी भयंकर, सत्यानासी !

क्षितीश—संन्यासीके प्रति तुम्हारे मनमें भक्ति है इसीलिए भाषा तुम्हारी इतनी तीव्र है।

बाँसुरी—चाहे-जिसे भक्ति बगैर किये जो कंगालिनें जी नहीं सकतीं, मैं उनमें नहीं हूं, महाशयजी! राजरानी होती अगर मैं, तो स्त्रियोंके बालोंकी रस्सी बनवाकर मैं उसे फाँसीपर लटकवा देती। कामिनी-कांचन वह छूता न हो सो बात नहीं, पर उसे वह फेंक देता है अपने किसी-एक जगन्नाथके रथके नीचे। छातीकी पसलियाँ वहाँ पिसकर चूर-चूर हो जाती हैं।

क्षितीश—उसका आइडिया क्या है सो भी मालूम होना चाहिए।

बाँसुरी—आइडिया है अतल समुद्रमें, तुम्हारे इलाकेके बाहर। वहाँ तुम्हारी मन्दाकिनी-पद्मावती डुबकी लगाकर तैर ही नहीं सकतीं। आभास मिला है, किसी-एक डाकघर-वर्जित देशमें उसने एक संघ बना रखा है, 'तरुण-तापस-संघ'। वहाँ नाना परीक्षाओं-द्वारा आदमी बनाये जाते हैं!

क्षितीश—और, तरुणी?

बाँसुरी—उसका मत है, 'नारीका स्थान है घरमें, बाहरसे उसका कोई ताल्लुक नहीं।'

क्षितीश—तो फिर सुषमाकी क्या जरूरत?

बाँसुरी—अन्न भी तो चाहिए! स्त्रियाँ प्रहरण-धारिणी न सही, पर करछुल-चम्मच-धारिणी तो हैं ही। राज-भण्डारकी चाभी रहेगी उसीके हाथमें। वो देखो सब बाहर आ रहे हैं, अनुष्ठान सम्पन्न हो गया शायद।

पुरन्दर और अन्य लोग बाहर आ जाते हैं

पुरन्दर (सोमशंकर और सुषमाको अगल-बगल खड़ा करके)—सुनो, तुम-दोनोंके मिलनका अन्तिम लक्ष्य घरकी दीवारके अन्दर नहीं, बड़ी सड़कके सामने है। सुषमा, वत्से, जो सम्बन्ध मुक्तिकी तरफ ले चलता है उसीको मैं श्रद्धा करता हूं। जो पशुकी तरह बाँध रखता है प्रकृतिकी-गढ़ी प्रवृत्तिके बन्धनमें या आदमीकी-गढ़ी दासताकी साँकलमें, धिक्कार है उस सम्बन्धको। पुरुष कर्म करता है, स्त्री शक्ति देती है। मुक्तिका रथ है कर्म और मुक्तिकी वाहिका है शक्ति। सुषमा, धनपर तुम्हें लोभ नहीं, इसीसे धनपर तुम्हारा अधिकार है। याद रखना, तुम संन्यासीकी शिष्या हो,

इसीलिए राजाके गृहणी-पदमें तुम्हारी पूर्णता है। (अपने दाहने हाथसे सोमशंकरका दाहना हाथ थामकर) सुनो—

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशोलभस्व
जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।

उठो, तुम यश लाभ करो। शत्रुओंको जय करो, जो राज्य असीम समृद्धिवान है उसका भोग करो। वत्स, मेरे साथ-साथ नमस्कार-मंत्र उच्चारण करो—

नमः पुरस्ताद् अथ पृष्ठतस्ते
नमोस्तुते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।

तुम्हें नमस्कार है सामनेसे, तुम्हें नमस्कार है पीछेसे, हे सर्व, तुम्हें नमस्कार है सर्व-दिशाओंसे। अनन्तवीर्य हो तुम, तुम्हींमें सर्व है, तुम्हीं सर्व हो।

क्षण-भरके लिए यवनिका पड़ती है ; और दूसरे ही क्षण उठ जाती है।
रात्रिका समय है, आकाशमें तारे दीख रहे हैं।
सुषमा और उसकी सखी नन्दा

सुषमा—अब अपना वो गीत तो गाओ, बहन!

नन्दा गीत गाती है

अनचाहे अपने-आप हमें जो मिलता,
त्यागेसे भी वह मुट्ठीमें आ जाता ;
उजियालेमें जिस धनको मैंने खोया,
वह मिला अँधेरेमें निज चमक दिखाता।
उसको न देखना, स्पर्श न उसका करना,
उसके हित धूनी रमा प्राणकी जगना,
तारे-तारेमें होगी उसकी वाणी,
प्रातःफूलोंमें फूटेगी रससानी।

उसके हित जितना नयन-नीर बरसाया,
वह सरस्वतीके शतदलमें सरसाया,
हिल-डोल रहा पारद-बूंदों-सा छाया।
प्रति गीत-गीतमें पलक-पलकमें छाकर
झिलमिला रहा है बाँकी झलक दिखाकर,
चिरशान्त हास्यका करुण प्रकाश समुज्ज्वल
है नयन-पल्लवोंमें उद्भासित चंचल।
अनचाहे अपने-आप हमें जो मिलता,
त्यागेसे भी वह मुट्ठीमें आ जाता।

पुरन्दरका प्रवेश

सुषमा (जमीनसे सिर टेककर)—प्रभु, दुर्बल हूं मैं। मनके किसी अँधेरे कोनेमें अगर कोई पाप किया हो तो उसे धो दो, पोंछ दो। आसक्ति दूर हो मेरी, जय-युक्त हो तुम्हारी वाणी।

पुरन्दर—वत्से, अपनी निन्दा न करो, अपनेपर अविश्वास न करो, नात्मानमवसादयेत्। डरो नहीं, कोई डर नहीं। आज तुम्हारे अन्दर सत्यका आविर्भाव हुआ है माधुर्यके रूपमें, कल वही सत्य उद्घाटित करेगा अपनी जगज्जयिनी वीरशक्ति!

सुषमा—आज संध्यासे यहाँ तुम्हारी प्रसन्न दृष्टिके सामने मेरे नवीन जीवनका आरम्भ हुआ है। तुम्हारा ही मार्ग हो मेरा मार्ग।

पुरन्दर—अब तुमसे दूर जानेका समय आ गया, वत्से!

सुषमा—दया करो प्रभु, त्यागो मत मुझे। अपना भार मैं अकेली न ढो सकूंगी। तुम्हारे चले जानेपर मेरी सारी शक्ति चली जायगी तुम्हारे ही साथ।

पुरन्दर—मेरे दूर जानेपर ही तुम्हारी शक्ति तुममें ध्रुव-प्रतिष्ठित होगी। मैंने तुम्हारा हृदय-द्वार खोल दिया है, इसलिए नहीं कि मैं स्वयं वहाँ स्थान ग्रहण करूं। जो मेरे व्रतपति हैं वे वहाँ स्थान ग्रहण करें। मेरे देवता हों

तुम्हारे ही देवता। दुःखसे डरो मत, आनन्दित होओ आत्मजयी अपनेमें। एक बात पूछता हूं तुमसे, – सोमशंकरके महत्त्वको तुमने अपने हृदयसे जान लिया है ?

सुषमा—हाँ, जान लिया है।

पुरन्दर—उस दुर्लभ महत्त्वको तुम अपनी दुर्लभ सेवाका मूल्य देकर सदा गौरवमय बनाये रखना, उसके वीर्यको सर्वोच्च सार्थकताकी ओर आनन्दसे सदा उन्मुख रखना, यही नारीका काम है। याद रखना, तुम्हारी तरफ देखकर वह सदा अपने प्रति श्रद्धा करता रहे, – यह बात भूलना नहीं।

सुषमा—कभी न भूलूंगी।

पुरन्दर—प्राणको नारी पूर्णता देती है, इसीलिए नारी मृत्युको भी महीयान कर सकती है। तुमसे यही मेरा अन्तिम कहना है।

दूसरा अंक

पहला दृश्य

कलकत्ता - चौरंगीमें बाँसुरीका मकान

क्षितीश और बाँसुरी

क्षितीश—तुम्हारा ड्राइवर तड़के ही पहुंचकर बार-बार मोटरका भोंपू बजाने लगा। पहचानी-हुई आवाज कानमें पड़ते ही भड़भड़ाकर उठ बैठा बिस्तरसे।

बाँसुरी—तड़के ही ! मतलब ?

क्षितीश—मतलब, आठ बजे होंगे।

बाँसुरी—अकाल-बोधन !

क्षितीश—कोई तकलीफ नहीं हुई, फिर भी जानना चाहता हूं कारण क्या था। कोई कारण न भी हो, तो भी शिकायत नहीं।

बाँसुरी—समझाये देती हूँ। लिखते वक्त तो नलिनाक्षके दलवालोंको खूब आड़े हाथ लेते हो, पर उनके सामने पड़ते ही देखती हूँ कि तुम्हारा मन इत्ता-सा हो जाता है! मन-ही-मन शोर मचाकर अपनेको समझाते रहते हो कि वे 'डेकोरेटेड फूल्स्' हैं। किन्तु उस स्वगत-उक्तिसे संकोच छिपाये नहीं छिपता। साहित्यिक आभिजात्यकी अनुभूतिको मनमें तो खूब फुला लेते हो, किन्तु मौका पड़नेपर अपनेको उनके मुकाबिलेमें खड़ा नहीं कर सकते। उस चित्त-विक्षेपसे बचानेके लिए, नलिनाक्षके दलवालोंका दिन शुरू होनेके पहले ही, तुम्हें बुला लिया है। सवेरे, कमसे कम नौ बजे तक, हमारे यहाँ रातका ही उत्तर-काण्ड चालू रहता है। फिलहाल यह मकान सहारा रेगिस्तानकी तरह सुनसान है।

क्षितीश—पर मैं तो 'ओएसिस' देख रहा हूँ यहाँकी चौहद्दीके भीतर।

बाँसुरी—अजी, पथिकवर, यह 'ओएसिस' नहीं, अच्छी तरह पहचानोगे तब समझ जाओगे कि मरीचिका है।

क्षितीश—मेरे दिमागमें और भी एक उपमा आ रही है, बाँसुरी, आज तुम्हारा सवेरेका बिन-सँवारा रूप दीख रहा है भोरके अलस चाँदके समान।

बाँसुरी—दुहाई है, तुम अपने इस गद्‌गद-भावको रख दो अकेले-घरमें विजन-विरहके लिए। मुग्धदृष्टि तुम्हें सोहती नहीं। कामके लिए बुलाया है मैंने तुम्हें, फालतू बात 'स्ट्रिक्ट्‌ली प्रोहिबिटेड' है!

क्षितीश—इससे भाषाकी 'रिलेटिविटी' प्रमाणित होती है। मेरे लिए जो मर्मान्तक जरूरी है तुम्हारे लिए वह बुहारा-हुआ फालतू कूड़ा है।

बाँसुरी—आज सवेरे, यही मेरा आखिरी अनुरोध है, सड़ाये-हुए रसके झागसे ताड़ीखाना मत बनाओ अपने बरतावको। कलाकारकी जिम्मेदारी है तुमपर।

क्षितीश—अच्छा, तो मान ली जिम्मेवारी।

'डेकोरेटेड फूल्स'=बने-ठने बेवकूफ। 'ओएसिस' (oasis)=रेगिस्तानमें सरसब्ज जगह।

बाँसुरी—साहित्यिक, मैं हताश हो पड़ी हूँ तुम्हारी जड़ता देखकर। खुद अपनी आँखोंसे देखा तुमने एक आसन्न 'ट्रैजिडी'का संकेत, आगका साँप फन उठाये हुए है, – फिर भी अब तक चेत नहीं उठी तुम्हारी कलम! मुझे तो कल रात-भर नींद नहीं आई। लिखनेकी ऐसी शक्ति मुझे क्यों नहीं दी विधाताने, जिसके एक-एक अक्षरसे फूट निकलता लाल आगका फव्वारा। आर्टिस्टकी आँखें हैं मेरी, देख सकती हूं कलाकारकी दृष्टिसे; किन्तु हाय आर्टिस्टका कण्ठ नहीं है, बोल नहीं सकती। ब्रह्मा अगर गूँगे होते तो अ-सृष्ट विश्वकी व्यथासे महाकाशकी छाती फट जाती।

क्षितीश—कौन कहता है तुम प्रकट नहीं कर सकतीं, – तुम नहीं हो आर्टिस्ट! तुम तो हीरा-मोती बखेर रही हो। बात-बातमें तुम्हारी शक्तिके सबूत बिखरे पड़ते हैं, देखके ईर्षा होती है मेरे मनमें।

बाँसुरी—मैं जो स्त्री हूं, मेरा प्रकाशन व्यक्तिगत है। कोई सुननेवाला प्रत्यक्ष मिल जाय तभी कुछ कह सकती हूं। सामने कोई सुननेवाला नहीं फिर भी कहना, – वही कहना तो चिरस्थायी है। हमारा कहना नगद दक्षिणा है। हाथों-हाथ दिया-लिया और किस्सा खतम हुआ। घर-घरमें क्षण-क्षणमें बुद्बुदकी तरह वह उठता है और बिला जाता है।

क्षितीश—पुरुष आर्टिस्टको अब तुमने फिर धक्का दिया है। अच्छा ठीक है, काम शुरू होने दो। उस दिन तुमने एक चिट्ठीका जिक्र किया था न, – क्या हुआ उसका?

बाँसुरी—यह रही वह चिट्ठी। संन्यासी कहते हैं, "प्रेममें मनुष्यकी मुक्ति है सर्वत्र। कवि जिसे प्यार कहते हैं वही है बन्धन। वह एक आदमीको ही आसक्तिसे घेरकर निविड़ स्वतंत्रतामें उसे अतिरंजित कर देता है। प्रकृति रंगीन शराब उँड़ेलती रहती है दैहिक प्यालेमें; और उससे जो मतवालापन तीव्र हो उठता है उसे अप्रमत्त सत्य-बोधसे ज्यादा सत्य समझनेकी गलती होती है। पिंजड़ेको भी चिड़िया प्यार करती है अगर उसे अफीमका नशा करा दिया गया हो। संसारमें जितना दुःख है, जितना विरोध है, जितनी विकृति है, सब उस मायाको ही लेकर है जो साँकलको

लोभनीय बना देती है। क्या सत्य है और क्या असत्य, इसकी अगर पहचान करना चाहती हो तो विचार करके देखो, क्या छुटकारा देता है और क्या बाँध रखता है। प्रेममें है मुक्ति, और प्यारमें है बन्धन।"

क्षितीश—सुन ली चिट्ठी। अब ?

बाँसुरी—अब तुम्हारा सर! यानी तुम्हारी कल्पना। भीतर ही भीतर सुना नहीं ? शिष्याको कह रहे हैं, 'न मुझे प्यार करो, न और किसको। निर्विशेष-अभेद प्रेम, निर्विकार आनन्द, निरासक्त आत्म-समर्पण, यही है दीक्षामंत्र।'

क्षितीश—तो-फिर इसमें सोमशंकर कहाँसे आता है ?

बाँसुरी—प्रेमकी सरकारी-सड़कसे, जिस प्रेममें सभीका समान अधिकार है खुली हवाकी तरह। तुम हो लेखकप्रवर, तुम्हारे सामने समस्या यह है कि खुली हवासे सोमशंकरका पेट भरेगा क्या ?

क्षितीश—क्या मालूम! शुरूमें तो देख रहा हूँ, शून्यपुराणकी पारी है।

बाँसुरी—लेकिन, शून्यमें क्या कुछ टिक सकता है ? आखिरी-मुकाममें तो पहुंच गई गाड़ी, अब तक तो रथ चला लाये संन्यासी-सारथी। अड्डा बदलनेका समय जब किसी दिन आयेगा तब लगाम किसके हाथ पड़ेगी, इस बातका जवाब तो दो, रियलिष्ट ?

क्षितीश—जिसे वे नाक सिकोड़कर कहते हैं प्रकृति, उसी मयाविनीके हाथमें। पंख नहीं, फिर भी आसमानमें उड़ना चाहता है जो स्थूल जीव, उसे जो धप-से जमीनपर गिराकर होश ठिकाने ला देती है और साथ-साथ सर्वाङ्गमें धूल लगा देती है, आखिरी बागडोर तो उसीके हाथमें है!

बाँसुरी—प्रकृतिके उस परिहासका ही वर्णन करना होगा तुम्हें। भवितव्यका चेहरा जोरदार कलमसे दिखा दो। बड़ी निष्ठुर है वह। सीताने सोचा था, देवचरित्र रामचन्द्र उद्धार करेंगे रावणके हाथसे ; अन्तमें मानव-प्रकृति रामचन्द्रने उन्हें आगमें जलाना चाहा। इसीको कहते हैं रियलिज्म, गन्दगीको नहीं। लिखो, लिखो, देर मत करो, ऐसी भाषामें लिखो जो हृत्पिण्डकी नस तोड़ दे। पाठक चौंककर देखें कि इतने दिन बाद

हमारे कमजोर साहित्यमें ऐसी एक लेखनी फूट निकली है जो तूफानी बादलोंमें हृदयघाती सूर्यास्तके क्रुद्ध प्रकाशकी तरह कठोर-सत्य है !

क्षितीश—उःफ्, तुम्हारा मन तो वालकैनो (आग्नेय-गिरि) की जठराग्निमें उतर पड़ा है। एक बात पूछता हूं, तुम अगर उन जैसी हालतमें पड़तीं तो क्या करतीं ?

बाँसुरी—संन्यासीका उपदेश सुनहली जिल्दकी नोटबुकमें लिख रखती। उसके बाद प्रवृत्तिकी जोरदार कलमसे उसके प्रत्येक अक्षरपर स्याहीके नाखून चलाया करती। प्रकृति जादू करती है अपने मन्त्रसे, संन्यासी भी जादू ही करना चाहता है उलटे मन्त्रसे। उनमेंसे एक मन्त्र रखती सर-माथे, और एक मन्त्रसे प्रतिदिन प्रतिवाद करती रहती हृदयमें।

क्षितीश—अब कामकी बात शुरू की जाय। इतिहासके शुरूमें जरा संध रह गई है। उनका यह विवाह-सम्बन्ध संन्यासीने कराया कैसे ?

बाँसुरी—पहले तो उसने संस्कृतमें एक पोथी लिखी, जिसमें सिद्ध किया कि सेन-वंश क्षत्रिय-वंश है, 'सेनानी' शब्दसे उसके नामका उद्भव हुआ है ; और वे किसी-एक ईस्वी शताब्दीमें दक्षिण-प्रदेशसे यहाँ आये थे दिग्विजय-वाहिनी पताका लिये-हुए। काशीके द्राविड़ी पण्डितोंने इसका समर्थन किया। संन्यासी स्वयं गया सोमशंकरके राज्यमें। प्रजा मुंह-बाये रह गई उसका चेहरा देखकर। कानाफूसी करने लगी कि जरूर किसी देवताके अंशसे ढाल कर बनाई गई है इसकी देह। सभा-पण्डित मुग्ध हो गये उसकी शैव-दर्शनकी व्याख्यासे। राजा साहबका मन था साफ, शरीर था जोरदार, उसपर लग गया कुछ संन्यासीका मन्त्र, और लगा प्रकृतिका मोह। उसके बाद जो-कुछ हुआ सो देख ही रहे हो।

क्षितीश—हाय री तकदीर, संन्यासी क्या हम जैसे अपात्रोंके लिए स्थूल प्रकृतिके दरबारमें घटकई नहीं करते !

बाँसुरी—रक्खो अपना छिछोरपन। गलती की मैंने तुम्हें चुनकर। जो आदमी यथार्थ लेखक है, उसके सामने जब कि दिखाई दे रहा है सृष्टि-कल्पनाका ऐसा एक जीवित आदर्श, धक-धक जिसकी नाड़ी चल रही है,

उसके मुंहसे क्या निकल सकती है ऐसी हलकी बात ? कैसे जगाऊं मैं तुम्हें ! मैं जो प्रत्यक्ष देख रही हूं एक महा-रचनाका पूर्वराग, सुन रही हूं उसका अन्तहीन नीरस क्रन्दन। दिखाई नहीं दे रहा तुम्हें अदृष्टका निष्ठुर व्यंग ? जाने दो, खतम हो गई मेरी बात। तुम्हारे लिए नाश्ता भिजवाये देती हूं। चल दी। [चल देती है

क्षितीश (दौड़कर बाँसुरीका हाथ पकड़के)—नहीं चाहिए मुझे नाश्ता। जाओ मत तुम।

बाँसुरी (हाथ छुड़ाकर जोरसे हँसती हुई)—अपने 'बेमेल' उपन्यासकी नायिका समझ लिया है क्या मुझे ? मैं भयंकर सत्य हूँ !

ड्रेसिंग-गाउन पहने-हुए सतीशका प्रवेश

सतीश—उच्चहास्यकी आवाज सुनाई दी जो, क्या बात है ?

बाँसुरी—ये अब तक स्टेजके मुन्नू बाबूकी नकल कर रहे थे।

सतीश—क्षितीश बाबूको 'नकल' भी आती है क्या ?

बाँसुरी—आती क्यों नहीं, इनकी किताबोंसे मालूम हो जाता है। तुम इनके पास जरा बैठो, मैं इनके लिए नाश्ता भिजवा दूं जाकर।

क्षितीश—जरूरत नहीं, मुझे का है, अब ठहर नहीं सकता। [प्रस्थान

बाँसुरी—याद रखना, शामको आज सिनेमा है, तुम्हारी ही किताब है 'पद्मावती' !

क्षितीश (नेपथ्यसे)—आज समय नहीं होगा।

बाँसुरी—होना ही होगा समयको, और-दिनसे दो घंटे पहले।

सतीश—अच्छा बाँसुरी, इस क्षितीशमें तुमने क्या देखा है बताओ तो ?

बाँसुरी—विधाताने उसे जो परीक्षाका परचा दिया है, उसमें मैं देखती हूं उसका उत्तर। और देखती हूं उसके बीचमें परीक्षकके हाथका एक बड़ा-सा कटा-हुआ दाग।

सतीश—ऐसी फेल की-हुई चीजको लेकर क्या करोगी ?

बाँसुरी—दाहना हाथ थामकर उसे प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण कर दूंगी।

सतीश—उसके बाद बायें हाथसे इनाम देनेका भी प्लैन है क्या ?

बाँसुरी—देनेसे पराये-लड़केके प्रति बड़ी निष्ठुरता होगी।

सतीश—घरके लड़केके प्रति भी। उधरकी खबर सुनी है कुछ ?

बाँसुरी—उधरकी खबर इधर आकर नहीं पहुंचती। हवा बह रही है उलटी तरफ।

सतीश—पहले बात थी कि सुषमाका ब्याह होगा महीने-भर बाद, अब तय हुआ है आगामी सप्ताहमें होगा।

बाँसुरी—अचानक इतनी तेज चाभी किसने भर दी ?

सतीश—उनलोगोंका हृत्पिण्ड काँप उठा है तेज रफ्तारमें, सहसा जो देखा तुम्हें रण-रंगिनीके वेशमें। तुम्हारा तीर छूटनेके पहले ही वे निकल भागना चाहते हैं, ऐसा मेरा खयाल है।

बाँसुरी—मेरा तीर! अधमरे प्राणीको मैं नहीं छूती। – बनमाली, मोटर मंगाओ। [बाँसुरीका प्रस्थान

शैलबालाका प्रवेश

उमर बाईस, किन्तु मालूम होती है सोलहसे अठारहके भीतर। छरछरी देह, श्यामवर्ण, आँखोंमें स्निग्ध भाव और चेहरेमें ममताका भाव भरा हुआ है।

सतीश—कैसा आश्चर्य है! भोरके स्वप्नमें आज तुम्हींको देखा है मैंने। तुमने भी मुझे देखा होगा जरूर।

शैलबाला—नहीं, मैंने तो नहीं देखा।

सतीश—ओ-हो, बनाके कहती क्यों नहीं। बड़ी निष्ठुर हो तुम। आजका दिन मेरा मधुर हो उठता।

शैलबाला—तुम्हारी फरमाइशसे अपनेको स्वप्न बनाना पड़ेगा! हम जैसी हैं, सिर्फ उसीसे तुमलोगोंका मन क्यों नहीं भरता ?

सतीश—खूब भरता है, यह जो साक्षात् आई हो, इससे ज्यादा और क्या चाहिए ?

शैलबाला—मैं आई हूं बाँसुरीके पास।

सतीश—यह देखो, फिर एक सच बात कह दी। तुरत बिस्तरसे उठकर दो-दो खालिस सच्ची बात झेल सकूं इतना मेरे मनमें जोर नहीं। धर्मराज क्षमा कर देते तुम्हें अगर कह देतीं कि मेरे ही लिए आई हो।

शैलबाला—बेरिस्टर आदमी हो, बड़े लिटरल हो तुम। बाँसुरीके पास आते वक्त तुमसे मिलनेकी बात मनमें थी ही नहीं, ऐसा क्यों समझ लिया?

सतीश—उलाहना देनेके लिए। बाँसुरीसे बात करनी है क्या कुछ? सलाह करके अपने ब्याहका दिन ठीक करना है क्या?

शैलबाला—नहीं, कोई बात नहीं करनी। उसके लिए मन बड़ा खराब रहता है। अपने मनमें मृत्युबाण लिये फिरती है, किन्तु कबूल करनेवाली लड़की नहीं वह। उसके दर्दपर हाथ फेरनेसे फुसकार उठती है, जैसे वह सर्प के मस्तककी मणि हो। इसीसे वक्त मिलते ही उसके पास आकर बैठ जाती हूँ और जो मनमें आती है बकती रहती हूँ। परसों आई थी मैं यहाँ। मेरे आनेकी आहट उसे नहीं मालूम हुई। उसके सामने पड़ा था चिट्ठियोंका बंडल। टेबिलपर झुकी बैठी थी तुरत समझ गई मैं कि आँखोंसे आँसू ढल रहे हैं। अगर उसे मालूम हो जाता कि मैंने उसे देख लिया है तो कोई-न-कोई काण्ड कर बैठती, शायद मुझसे विच्छेद ही हो जाता। दबे-पाँव लौट गई। पर उस दृश्यको मैं भूल नहीं सकती। वह गई कहाँ?

खानसामा चायका सामान रख जाता है

सतीश—अभी-अभी बाहर गई है। अच्छा हुआ, भाग्यसे चली गई।

शैलबाला—बड़े स्वार्थी हो तुम।

सतीश—बहुत ज्यादा। उठके चल कहाँ दीं? चाय बनाओ।

शैलबाला—मैं पी चुकी।

सतीश—सो क्या हुआ, मैंने तो नहीं पी। बैठके पिलाओ मुझे। डाक्टरी मतानुसार अकेले चाय पीना निषिद्ध है, उससे वायुका प्रकोप बढ़ जाता है।

शैलबाला—खातिरदारीकी झूठी आशा क्यों करते हो?

सतीश—मौका पानेपर ही करता हूं। तुम्हारे समान खालिस सत्य मेरी प्रकृतिमें नहीं है। ढालो चाय। यह क्या किया, चायमें मैं चीनी नहीं लेता, तुम तो जानती हो!

शैलबाला—भूल गई थी।

सतीश—मैं होता तो कभी नहीं भूलता।

शैलबाला—मुझे सपनेमें देखनेके बाद भी तुम्हारे मिजाजने कुछ तरक्की तो नहीं की! लड़ते क्यों हो?

सतीश—कारण मीठी बात छेड़नेसे तुम्हीं लड़ना शुरू कर देतीं। सीरियस हो उठतीं।

शैलबाला—अच्छा चुप रहो। अब तो चाय पी चुके?

सतीश—पी चुकते ही अगर चल दो तो अभी नहीं पी चुका।

नौकरका प्रवेश

नौकर—हरिश बाबू कागजात लेकर आये हैं।

सतीश—कह दो, फुरसत नहीं है। [नौकरका प्रस्थान

शैलबाला—यह क्या, काम ही नहीं करना!

सतीश—नहीं करूँगा, मेरी खुशी।

शैलबाला—मैं जो दोषी होऊँगी।

सतीश—इसमें क्या शक, बिला वजह काम कोई नहीं छोड़ता।

नेपथ्यसे—सतीश भाई-साहब!

सतीश—लो, आ धमके लोग। 'घर नहीं हैं' कहलवानेका भी वक्त नहीं दिया!

सुधांशुके साथ कुछ लोगोंका प्रवेश

—मनहूसोंकी चौकड़ी है, सवेरे-सवेरे मुंह देखना पड़ा, – आज चूल्हेपर ही बटलोई फट जायगी।

सुधांशु—मिस शैली, कायरने तुम्हारी शरण ले रखी है, लेकिन आज छुटकारा नहीं।

सतीश—डराते क्यों हो ? क्या चाहिए ?

शचीन—मनहूस-क्लबका चन्दा। शुरूके दिनसे बकाया चला आ रहा है।

सतीश—क्या ! मैं, और मनहूस-क्लबका मेम्बर ! विगरस प्रोटेस्ट करता हूं, जोरदार अस्वीकृति।

नरेन्द्र—सबूत पेश करो।

सतीश—सबूत सामने मौजूद है सशरीर !

सुधांशु—शैलदेवी ! अच्छा, यह बात है ! कानूनके खिलाफ आप प्रश्रय देती हैं फरार असामीको !

शैलबाला—मैंने जरा भी प्रश्रय नहीं दिया, लीजिये न, आपलोग अपना बकाया वसूल कर लीजिये।

सतीश—शैली, जितनी भी तुम्हारी सचाई है सब मेरे ही लिए ! और इनलोगोंके सामने सत्यका अपवाद, – 'प्रश्रय नहीं देती' कहना चाहती हो !

शैलबाला—क्या प्रश्रय दिया है ?

सतीश—अभी-तुरत कंठकी सौगंद दिलाकर चाय पिलाने नहीं बैठीं ? लक्ष्मीके हाथसे अजीर्ण-रोगकी नींव पड़ी, फिर भी ये मुझे कहते हैं मनहूस !

शचीन—हूं, लोभ दिखाकर बात कही जा रही है ! शैलदेवी, आप अगर सख्त बनी रहें तो इन्हें हम लाइफ-मेम्बर बना सकते हैं।

सतीश—अच्छा तो सुनो। चन्दा पाते ही अगर मुहल्ला छोड़कर भाग जानेको राजी होओ, तो अभी-तुरत मैं बकाया सब चन्दा चुकानेको तैयार हूँ।

शचीन—सिर्फ चन्दा नहीं। हमारे घरमें कोई चाय पिलानेवाला नहीं, जिनके घर हैं उनके यहाँ पारी-पारीसे चाय पीने निकलते हैं हम ; उसके बाद कुछ भिक्षा भी लेते हैं। आज हमलोग निकले हैं श्रीमती बाँसुरी देवीके करकमलोंकी फिराकमें।

सतीश—सौभाग्यवश वह देवी अपने करकमल-समेत अनुपस्थित है। लिहाजा, घड़ी देखकर पाँच मिनटका नोटिश देता हूँ, निकल जाओ तुमलोग यहाँसे, भागो !

शैलबाला—ओ-हो-हो, यह कैसी बात कर रहे हो ! बगैर चाय पीये क्यों जाने लगे ! मैं क्या नहीं पिला सकती ? जरा बैठिये, अभी इन्तजाम किये देती हूं। [शैलबालाका प्रस्थान

सतीश—लेकिन, अभी जो तुमलोगोंने भिक्षाकी बात कही, उसमें मुझे खटका है। मतलब मेरी समझमें नहीं आ रहा।

सुधांशु—कमखाबकी दूकानवालोंका हमपर कुछ सामूहिक कर्जा है, आज सामूहिक कोशिशसे उसे चुकाना होगा।

सतीश—कमखाब ! भावी लक्ष्मीके लिए आसन बनानेके लिए ?

शचीन—हाँ जी !

सतीश—अद्भुत दूरदर्शिता है—

शचीन—जी नहीं, अदूरदर्शिताका प्रमाण अभी-तुरत मिल जायगा।

शैलबालाका प्रवेश

शैलबाला—सब तैयार है, आइये आपलोग।

दूसरा दृश्य

बरामदेमें बैठे हैं राजा सोमशंकर। जौहरी गहनेकी पेटियाँ खोल-खोलकर जड़ाऊ गहने दिखा रहा है। एक कोनेमें कपड़ोंकी गठरी लिये-हुए कश्मीरी दूकानदार बैठा है।

बाँसुरी—कुछ बात करनी है।

सोमशंकरने इशारेसे जौहरी और कश्मीरीको विदा कर दिया।

सोमशंकर—सोचा था, आज ही जाऊंगा तुम्हारे पास।

बाँसुरी—उन बातोंको रहने दो। डरकी कोई बात नहीं, रोने-बिलखने नहीं आई मैं। फिर भी, और-कुछ नहीं तो, तुम्हारे विषयमें चिन्ता करनेका अधिकार तुमने मुझे दिया था किसी दिन। इसीसे, मैं तुमसे एक बात पूछना चाहती हूं,– तुम जानते हो सुषमा तुम्हें प्यार नहीं करती ?

सोमशंकर—जानता हूं।

बाँसुरी—उससे तुम्हारा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं ?

सोमशंकर—कुछ नहीं।

बाँसुरी—तो, जीवनयात्रा कैसी होगी ?

सोमशंकर—जीवनयात्राकी बात सोचता ही नहीं।

बाँसुरी—तो क्या बात सोचते हो ?

सोमशंकर—एकमात्र सुषमाकी बात।

बाँसुरी—यानी, तुम सोचते हो, तुम्हें बगैर प्यार किये भी कैसे सुखी हो सकती है वह ?

सोमशंकर—नहीं, ऐसा मैं नहीं सोचता। सुखी होनेकी बात सुषमा भी नहीं सोचती ; और न उसे प्यारकी जरूरत है।

बाँसुरी—तो काहेकी जरूरत है उसे, रुपयोंकी ?

सोमशंकर—यह तुम्हारे लायक बात नहीं हुई, बाँसुरी !

बाँसुरी—अच्छा, गलती हुई मुझसे। लेकिन, सवालका जवाब अभी बाकी है। काहेकी जरूरत है सुषमाको ?

सोमशंकर—उसके एक व्रत है। उसके जीवनकी सारी जरूरतें उसीपर निर्भर हैं ; और उसके व्रतको यथासाध्य सार्थक करना मेरा भी व्रत है।

बाँसुरी—उसका व्रत पहले है, और उसके पीछे तुम्हारा,— बात तो पुरुषों-जैसी नहीं सुनाई दी, स्त्रियों-जैसी तो कतई नहीं। इतने बड़े पुरुषके कानमें मंत्र फूंका है उस संन्यासीने। बुद्धि कर दी है धुंधली, आँखें कर दी हैं बन्द। सुन लिया मैंने सब, अच्छा नहीं हुआ। श्रद्धा मेरी जाती रही, बन्धन गया टूट। पूरी उमरके बच्चोंका पालन करना मेरा काम नहीं, इस कामका भार मैंने सुषमापर ही छोड़ दिया।

पुरन्दरका प्रवेश

सोमशंकरने प्रणाम किया। अग्निशिखाके समान बाँसुरी उठके खड़ी हो गई संन्यासीके सामने।

बाँसुरी—आज नाराज न होइयेगा ; धीरज रखियेगा, मैं कुछ सवाल करूँगी। [पुरन्दरके इशारेपर सोमशंकरका प्रस्थान

पुरन्दर—अच्छा, करो सवाल।

बाँसुरी—मैं पूछती हूं, सोमशंकरपर श्रद्धा रखते हैं आप? खेलका गुड्डा नहीं समझते उन्हें!

पुरन्दर—विशेषरूपसे श्रद्धा करता हूं।

बाँसुरी—तो-फिर क्यों ऐसी लड़कीका भार सौंप रहे हैं उनपर जो उन्हें प्यार नहीं करती?

पुरन्दर—तुम नहीं जानतीं, यह अत्यन्त महान् भार है। एक-ही-साथ क्षत्रियका पुरस्कार और परीक्षा है। सोमशंकर ही इस भारको ग्रहण करनेके योग्य है।

बाँसुरी—योग्य होनेसे ही उनका चिर-जीवनका सुख नष्ट करना चाहते हैं आप?

पुरन्दर—सुखकी उपेक्षा कर सकता है वह वीर, बड़े आनन्दसे!

बाँसुरी—आप मानव-प्रकृतिको मानते हैं?

पुरन्दर—मानव-प्रकृतिको ही मानता हूं, उससे नीचे दरजेकी प्रकृतिको नहीं।

बाँसुरी—अगर ऐसा ही है, इतनी बड़ी बात है, तो वे ब्याह नहीं भी कर सकते थे?

पुरन्दर—व्रतका निष्काम-भावसे पोषण करेगी स्त्री; और उसका निष्काम-भावसे प्रयोग करेगा पुरुष,—इस बातको मनमें धारणकर स्त्री-पुरुषकी एक जोड़ी मैं बहुत दिनोंसे ढूंढ़ रहा था। दैवसे मिली है यह।

बाँसुरी—पुरुष होनेसे ही तुम समझ नहीं पाते कि प्यारके बिना दो आदमियोंको मिलाया नहीं जा सकता।

पुरन्दर—स्त्री होनेसे ही समझनेकी इच्छा नहीं करतीं तुम कि प्यारके मिलनमें मोह है, प्रेमके मिलनमें मोह नहीं।

बाँसुरी—मोह चाहिए, मोह चाहिए, संन्यासी, मोहके बिना सृष्टि कैसी! तुम्हारा मोह है अपने व्रतसे, उस व्रतके आकर्षणसे ही तुम आदमीके मनको काट-छाँटकर मनमाना जोड़ लगाने बैठो हो;—समझ ही नहीं पाते कि वे

सजीव पदार्थ हैं, वे तुम्हारे प्लैनमें खपनेके लिए नहीं बने। हमारा मोह सुन्दर है, और तुमलोगोंका मोह है भयंकर !

पुरन्दर--मोहके बिना सृष्टि नहीं होती, मोह टूटते ही प्रलय है, यह बात माननेको तैयार हूं। किन्तु, तुम भी इस बातको याद रखो, मेरी सृष्टि तुम्हारी सृष्टिसे बहुत ऊंची है। इसीलिए, मैं निर्मम होकर तुम्हारे सुखको कर दूंगा तहस-नहस। मैं भी नहीं चाहूंगा सुख ; जो मेरे पास आयेंगे सुखकी तरफसे, उनसे मैं मुंह मोड़ लूंगा। मेरा व्रत ही मेरी सृष्टि है, उसका जो प्राप्य है सो उसे देना ही होगा ; चाहे वह कितना ही कठिन क्यों न हो।

बाँसुरी—इसीलिए सजीव नहीं है तुम्हारा आइडिया, संन्यासी ! तुम जानते हो मंत्र, आदमीको नहीं जानते। मनुष्यकी मर्मग्रन्थियोंको तोड़-मरोड़कर वहाँ तुम अपने मन-गढ़े सूखे आइडियाका बैण्डेज बाँधकर असह्य दर्दपर बड़े-बड़े विशेषणोंके ढक्कन ढक देना चाहते हो। उसे कहते हो शक्ति ? टिकेगा नहीं बैण्डेज, दर्द ज्यों-का-त्यों बना ही रहेगा। तुमलोग सब अ-मानव हो, मानवकी बस्तीमें क्या करने आये हो ? जाते क्यों नहीं अपनी गुफाओंमें, बदरिकाश्रममें ? वहाँ मनमाने आनन्दसे अपनेको सुखाकर पत्थर कर डालो। हम साधारण मनुष्य हैं, हमारा 'प्यासका पानी' मुंहसे छीनकर मरुभूमिमें छिड़ककर उसे साधनाके नामसे प्रचार करते हो किस करुणासे ? व्यर्थ-जीवनका अभिशाप नहीं पड़ेगा तुमपर ? जिसे खुद भोगना नहीं जानते, उसे भोग नहीं करने दोगे भूखेको भी ?

सुषमाका प्रवेश

—आ गई सुषमा, सुन, एक बात करती हूँ तुझसे। हताशामें जान हथेलीपर रखकर स्त्रियाँ चिताकी आगमें जली हैं बहुत, उन्होंने समझा था कि उसीमें परमार्थ है। उसी तरह अपने हाथसे अपने भाग्यमें आग लगाकर प्रतिदिन प्रतिक्षण मरना चाहती है तू भी जल-जलके ! तू नहीं चाहती प्यार, किन्तु जो चाहती है उसने पाषाण नहीं बना डाला अपने नारी-हृदयको ! क्यों तू छीनने चली आई उसके चिरजीवनके आनन्दको ? आज मैं तुझसे कहे देती

हूँ, सुन ले, चाहे घोड़ेपर चढ़, चाहे शिकार कर, और चाहे संन्यासीसे मंत्र ले, फिर भी तू पुरुष नहीं है। अरी, ओ नारी, आइडियाके साथ गँठजोड़ा करके दिन नहीं कटनेके तेरे, तेरी रातें ही तेरे लिए बिछा देंगी कंटक-शय्या !

सोमशंकरका प्रवेश

सोमशंकर—बाँसुरी, शान्त होओ, चलो यहाँसे।

बाँसुरी—जाऊँगी नहीं तो क्या ! ऐसा न समझ लेना कि मर मिटूँगी छाती फाड़-फाड़कर, जीवन हो जायगा चिर-चितानलका श्मशान ! कभी भी ऐसी विचलित दशा नहीं हुई मेरी। आज क्यों आई, कैसे आई यह पागलपनकी बाढ़ ? लज्जा ! लज्जा ! लज्जा ! तुम तीन जनोंके सामने यह अपमान ! ठहरो, सोमशंकर, मुझपर दया करने न आओ। बिलकुल पोंछके मिटा दूँगी यह अपमान, कोई चिह्न नहीं रहेगा कल इसका। कहे जाती हूँ मैं, समझे !

[बाँसुरी और सुषमाका प्रस्थान

पुरन्दर—सोमशंकर, एक बात पूछता हूँ तुमसे।

सोमशंकर—कहिये।

पुरन्दर—जो व्रत तुमने ग्रहण किया है उसे सम्पूर्णरूपसे अपना लिया है तुमने ? उसकी क्रिया शुरू हुई है तुम्हारी प्रतिक्रियाके साथ ?

सोमशंकर—सन्देह क्यों अनुभव कर रहे हैं ?

पुरन्दर—मेरे प्रति भक्ति होनेसे ही अगर यह संकल्प ग्रहण किया हो, तो अभी इसी क्षण फेंक दो उस बोझको।

सोमशंकर—ऐसी बात क्यों कह रहे हैं आज ? मेरे अन्दर कमजोरीका कोई लक्षण देख रहे हैं क्या ?

पुरन्दर—मोहिनी-शक्ति है मुझमें, कोई-कोई ऐसा कहते हैं। सुनके शरमा जाता हूँ। जादूगर नहीं हूँ मैं।

सोमशंकर—आत्माकी क्रियापर जो विश्वास नहीं करते वे उसे कहते हैं जादूकी क्रिया।

पुरन्दर—व्रतका महात्म्य है उसकी स्वाधीनतामें। अगर बहकाया हो तुम्हें, तो वह बहक मुझे छुड़ानी ही होगी। गुरु-वाक्य विष है यदि तुम्हारा वह अपना वाक्य न हो।

सोमशंकर—संन्यासी, जिस व्रतको मैंने ग्रहण किया है वह मेरे रक्तमें बह रहा है सतेज होकर, हृदयमें जल रहा है होमाग्निके समान। मृत्युके आमने-सामने खड़ा हूं, आज मेरे अन्दर दुविधा है कहाँ ?

पुरन्दर—यही बात सुनना चाहता था तुम्हारे मुँहसे। और-एक बात बाकी है। कोई-कोई सवाल करते हैं, 'क्यों तुम्हारा ब्याह कराया सुषमासे?' तुम्हींसे मैं इसका उत्तर चाहता हूं।

सोमशंकर—इतने दिनकी तपस्याके बाद इस नारीके चित्तको तुमने यज्ञकी अग्निशिखाकी तरह ऊर्ध्वमें जलाया है; और मेरे ही ऊपर भार दिया है उस अनिर्वाण अग्निकी चिरकाल रक्षा करनेका।

पुरन्दर—वत्स, जितने दिन उसकी रक्षा करोगे, उससे तुम अपनी ही रक्षा करते रहोगे। वही तुम्हारा मूर्तिमान धर्म है, रहा तुम्हारे ही साथ; 'धर्मो रक्षति रक्षितम्।' मेरे बन्धनसे तुम मुक्त हुए, साथ ही शिष्यके बन्धनसे मुझे भी मुक्ति मिली। तुम्हारे विवाहके बाद मुझे जाना होगा बहुत दूर; हो सकता है कि फिर कभी मुझसे भेंट न हो। मेरा यह आशीर्वाद रहा, जानथ आत्मानम्, अपनेको पूर्णरूपसे जानो।

[पुरन्दरका प्रस्थान। सोमशंकर बहुत देर तक स्तब्ध खड़ा रहता है।

सोमशंकर—अरे भोले मन, अपना नया गीत शुरू कर—

गीत

प्राणका फूंक व्यर्थ जंजाल, लगा दो आग आज सोल्लास !
अँधेरी सन्नाटी है रात, चाहिए पथमें मुझे प्रकाश।
चोट दुन्दुभिपर किसकी पड़ी,
झनझना उठी हृदयकी कड़ी,

भगा शुभ-अशुभ दृश्यसे पूर्ण सुप्ति-रजनीका स्वप्न-विलास।
अरे ओ लुप्त पथिक, कह दो, तुम्हीं क्या मुझको रहे पुकार?
नहीं दोगे दर्शन, मत दो, रहूंगा मैं तो भी अविकार।
मिटाया तुमने उरसे आज चाहने औ' पानेका भाव,
बहाई ऐसी झंझावात न अब उरमें चिन्ताको ठाँव।
सितासित पलमें एकाकार किया चमकाकर तड़ित उजास।
प्राणका फूंक व्यर्थ-जंजाल, लगा दो आग आज सोल्लास!

नेपथ्यसे—आ सकता हूं क्या?

सोमशंकर—आओ, आओ।

तारकका प्रवेश

तारक—राजा साहब, आजकल आपके पास आनेमें कैसा-तो डर-सा लगता है।

सोमशंकर—कोई वजह तो नहीं मालूम होती।

तारक—कोई वजह न होनेसे ही तो डर ज्यादा है। आज बाद कल ब्याह है, पर लगता ऐसा है जैसे आप किसी-और द्वीपके लिए रवाना हो रहे हों। बड़ी जबरदस्त गम्भीरता धारण कर रखी है आपने।

सोमशंकर—ब्याह असलमें है भी तो एक द्वीपसे दूसरे द्वीपमें जाना।

तारक—सब ब्याह तो ऐसे नहीं होते, राजन्! अपनी बात मैं कह सकता हूं। मेरी बारात गई थी पटलडाँगासे चोरबगान। अपने मनमें भी उससे ज्यादा नहीं बढ़ा। मेरी स्त्रीका नाम है पुष्पा। रसिक मित्रोंने अपनी कवितामें मुझे खिताब दिया 'पुष्प-चोर'। उस कविताका शीर्षक था 'चौर-पंचाशिका'। कविसे पूछा मैंने, 'चौर-पंचाशिकामें कविता तो एक ही देख रहा हूँ, बाकी उनंचास कहाँ गईं?' जवाब मिला, 'वे उनंचास-पवनके रूपमें दूल्हाके हृदय-गह्वरमें चक्कर काट रही हैं।'

सोमशंकर—इससे साबित होता है कि मेरे रसिक बन्धु नहीं हैं, इसीसे गम्भीरता इस तरह घेरे-हुए है मुझे।

तारक—हमारे मुहल्लेके अभागे यानी श्रीहीन कुँवारे युवकोंने मिलकर अशोक गुप्तके बगीचेमें कोनेकी एक झोंपड़ीमें एक क्लब कायम की है। आफिससे लौटनेके बाद शामको वहाँ सब इकट्ठे होकर खूब हल्ला मचाया करते हैं। तसल्ली देनेके लिए हम श्रीमन्त यानी विवाहित लोग उन्हें निमन्त्रण दे रहे हैं। आपको प्रिजाइड करना होगा।

सोमशंकर—सुना है 'वैकुण्ठ-लूट' कविता लिखकर उनलोगोंने मुझे लक्ष्मी-हारी दैत्य बना दिया है?

तारक—बात सच है। उनका टेम्परेचर घटाना जरूरी हो गया है।

सोमशंकर—वैध उपायसे उन्हें ठंडा करनेको मैं राजी हूं।

तारक—अपने कमलविलास गुप्तसे मैं कवितामें एक निमंत्रणपत्र लिखवा लाया हूँ।

सोमशंकर—पढ़के सुनाओ।

तारक—कर चुके जिनसे प्रजापति* मित्रता प्रत्यक्ष,
औ' प्रजापतिके बनेंगे जो भविष्यत् लक्ष्य,
उदर-सेवाके उदार क्षेत्रमें युग-पक्ष,
आ करें सरसित स्व-रसना चख बहुल-रस-भक्ष्य।
जब बुला बैठे सुरोंको सत्ययुगमें दक्ष,
बे बुलाये आ जमे बहु यक्ष किन्नर रक्ष।
भूल वह हमसे न होगी, मम सु-भोजन-कक्ष
मोक्ष देगा भूखसे युग-पक्षको निष्पक्ष।
आज बन्धन-हीन फिरते जो फुलाकर वक्ष,
हम उन्हें देंगे विदाके समय आशिष लक्ष, –
"भाग्य उनके भी खुलें, मिल जायँ 'काराध्यक्ष'।"
तुक न आगे और मिलती,-य र ल व ह क्ष।

—लीजिये, आ पहुँचा मनहूस-दल!

'प्रजापति'से यहाँ मतलब है 'विवाह करानेवाले ब्रह्मा'।

सुधांशु शचीन आदिका प्रवेश

सोमशंकर—कहिये, किस मतलबसे आगमन हुआ ?

सुधांशु—गाना सुनायेंगे।

सोमशंकर—उसके बाद ?

सुधांशु—उसके बाद नोब्ल रिवेञ्ज, सुमहान प्रतिहिंसा !

सोमशंकर—उस आदमीके कँधेपर वह क्या है ? बम तो नहीं ?

सुधांशु—धारावाहिक उपन्यासकी तरह क्रमशः प्रकाशित किया जायगा। फिलहाल गाना सुनिये।

सोमशंकर—रचना किसकी है ?

शचीन—कॉपीराइटमें बहस है। विषयके देखे कॉपीराइटका अधिकार हमारा ही है, जिसकी कविता है उसे हम कुछ गिनते ही नहीं।

गीत

(हम) श्रीहीन अभागोंके हैं दल
भव-पद्म-पत्रपर हम हैं जल,
हिलते-डुलते रहते ढलमल,
हम वायु सरीखे शून्य सचल, रखता न फलाफल यहाँ दखल।

(हम) क्या जानें कारण और करण
क्या जानें धारण और धरण
हमको न मान्य शासन वर्जन
हमने अपने गुस्सेमें आ, मनकी तरंगके झोंके खा
हैं तोड़ दिये सारे शृंखल।

लक्ष्मी, तव वाहन पला करें
दूधों-पूतों वे फला करें
तव पद-रज तनमें मला करें

हम कंधेसे झोली लटका घूमेंगे धरतीपर निष्फल।
(हम) श्रीहीन अभागोंके हैं दल।

(तेरे) बन्दरगाहोंमें रत्न भरे
घाटोंमें रौप्य सुवर्ण धरे
हाटोंमें मणि मुक्ता बिखरे
बे-लंगरकी टूटी नौका लेकर हम फिरा किये केवल।

(हम) अब तो देखेंगे खोज यहीं
क्या है अकूलका कूल कहीं
भव-सागरमें क्या द्वीप नहीं
सुख न हो मुअस्सर, देखेंगे हम डूब रसातल कहाँ अतल।

(हम) हतभाग्य इकट्ठे हो लेंगे
मेला-सा एक लगा देंगे
मस्तीमें तान अलापेंगे
(यदि) सुर न हो गलेमें, फाड़ गला, हम कर तो लेंगे कोलाहल।
(हम) श्रीहीन अभागोंके हैं दल।

सोमशंकर—अब कुछ फलाहारका इन्तजाम किया जाय ?

सुधांशु—पहले देवीको आने दीजिये घरमें, उसके बाद फलकी कामना करेंगे।

सोमशंकर—उसके पहले—

सुधांशु—उसके पहले सुमहान प्रतिहिंसा! (गठरीमेंसे कमखाबका आसन निकालकर) लक्ष्मीके साथ उनके भक्तोंका योग रहेगा इस आसनके द्वारा। तुम्हारे राज-महलकी जमीन तुम्हारी ही रहेगी, उसपर आसन रहेगा हमारा ही। और उनका कमलासन, वह है हमलोगोंके हृदयमें।

सोमशंकर—क्या कहूं ? कहने लायक बात मैं कुछ नहीं जानता।

तीसरा अंक

अन्तिम दृश्य

बाँसुरीका मकान। सतीश टेबिलपर बैठा कुछ लिख रहा है।

सुषमाकी छोटी बहन सुषीमाका प्रवेश

सतीश—मेरे साथ ब्याहकी बात पक्की करने आई हो क्या? वरका 'मुख-दर्शन' होगा शायद आज?

सुषीमा—चलो हटो।

सतीश—'हटो' क्यों? ज्यादा दिन नहीं हुए अभी, जब तुम पाँच सालकी थीं, अपनी मासे पूछ देखना, मुझसे ब्याह करनेके लिए कैसी जिद थी तुम्हारी! मैंने तुम्हारे लिए सोनेके कड़े बनवा दिये थे, जोकि गलकर अब 'ब्रोच'में परिणत हो गये हैं।

सुषीमा—क्या बक रहे हो तुम!

सतीश—अच्छा, जाने दो, क्यों आई हो, बताओ?

सुषीमा—जीजीके ब्याहमें उपहार देना है।

सतीश—यह तो अच्छी बात है। क्या देना चाहती हो?

सुषीमा—यह चमड़ेका बैग।

सतीश—अच्छी चीज है, – देखकर मेरा ही जी ललचा रहा है।

सुषीमा—मैं आई हूँ बाँसुरी-जीजीके पास।

सतीश—वहाँसे किसीने भेजा है क्या?

सुषीमा—नहीं, मैं छिपके चली आई हूं, किसीको मालूम नहीं। इस बैगपर मुझे बाँसुरी-जीजीसे रेशमका कुछ काम कराना है।

सतीश—बाँसुरी-जीजी रेशमका काम जानती हैं, यह तुमसे किसने कहा?

सुषीमा—राजा सा'बने। उनके पास एक सिगरेट-केस है, बाँसुरी-जीजीका दिया-हुआ। उसपर जीजीने कबूतरोंकी एक जोड़ी बना दी है अपने हाथसे। ऐसी अच्छी है, क्या बताऊं!

सतीश—अच्छा, तुम्हारी बाँसुरी-जीजीको मैं भेजे देता हूँ। [प्रस्थान

बाँसुरीका प्रवेश

बाँसुरी—क्या है सुषी!

सुषीमा—तुमसे सतीश 'भाई सा'बने सब कह दिया?

बाँसुरी—हाँ, सुन लिया। तसवीर बना दूंगी तुम्हारे बेगपर। क्या बनाऊँ बताओ?

सुषीमा—कबूतरोंकी एक जोड़ी। ठीक वैसी ही, जैसी राजा सा'बके सिगरेट-केसपर बनाई है।

बाँसुरी—ठीक वैसी ही बना दूँगी। पर किसीसे कहना नहीं कि मैंने बनाई है।

सुषीमा—किसीसे नहीं कहूंगी।

बाँसुरी—तुझे भी एक काम करना होगा, नहीं-तो मैं नहीं बनाऊँगी।

सुषीमा—बताओ क्या करना होगा?

बाँसुरी—राजा साहबका वो सिगरेट-केस मुझे ला देना होगा।

सुषीमा—उनकी बुक-पाकेटसे! वे मुझे हरगिज न देंगे।

बाँसुरी—मेरा नाम लेकर कहना, 'देना ही होगा'।

सुषीमा—तुमने तो उन्हें दिया ही है; फिर वापस कैसे लोगी?

बाँसुरी—तुम्हारे राजा सा'ब भी तो दी-हुई चीज वापस ले लेते हैं।

सुषीमा—हरगिज नहीं।

बाँसुरी—अच्छा, उनसे पूछना मेरा नाम लेकर।

सुषीमा—अच्छा पूछूंगी। मैं जाती हूं; लेकिन तुम भूल न जाना!

बाँसुरी—तू भी मत भूलना मेरी बात। चल, तुझे चाकलेट दूं। किसीसे कहना नहीं कि मैंने दिया है।

सुषीमा—क्यों ?

बाँसुरी—मा जान जायेंगी तो नाराज होंगीं।

सुषीमा—क्यों ?

बाँसुरी—तेरी तबीयत खराब हो जाय तो !

सुषीमा—नहीं कहूंगी। राजा सा'बको भी खिलाऊँगी लेकिन !

[सुषीमाका प्रस्थान

एक कापी हाथमें लेकर बाँसुरी सोफेपर बैठ जाती है।

लीलाका प्रवेश

बाँसुरी—देख लीला, मेरे सामने तू गम्भीर मुंह बनाकर न आया कर बहन, नहीं तो लड़ाई हो जायगी। मालूम होता है सान्त्वना देनेके इरादेसे आई है, बादल झरने-ही-वाले हैं। दुःख मैं सह लेती हूं, पर सात्वना मुझसे नहीं सही जाती, तू तो जानती है। बैठी थी ग्रामोफोनपर कॉमिक रेकॉर्ड बजाने, लेकिन उससे भी बढ़कर कॉमिक हाथ पड़ गया।

लीला—क्या, बताना ?

बाँसुरी—क्षितीशकी कहानी।

लीला (कापी लेकर)—'प्यारका नीलाम', – नाम तो चल जायगा बाजारमें !

बाँसुरी—चीज भी चल जायगी। इस चीजकी खपत है। – पढ़ना चाहती है ?

लीला—नहीं बहन, समय नहीं। बुलावा आया है ब्याहके लिए घर सजानेका।

बाँसुरी—मैं क्या नहीं सजा सकती थी ?

लीला—मुझसे बहुत अच्छा सजा सकती थी।

बाँसुरी—बुलानेकी हिम्मत नहीं पड़ी ! कायर हैं वे !

लीला—सो बात नहीं, शरमा गये, क्या कहके बुलाते ?

बाँसुरी—न बुलाकर ही ज्यादा शरमिन्दा किया। सोचा होगा कि मैं अन्न-जल छोड़कर घरका दरवाजा बन्द करके रो-रोके घर भर दूंगी। उन लोगोंसे जब तेरी भेंट हो तो बातों-ही-बातोंमें कह तो देना कि 'बाँसुरी बिस्तरपर पड़ी कॉमिक कहानी पढ़ रही थी, हँसते-हँसते पेट फटा जा रहा था उसका।' जरूर कहना।

लीला—जरूर कहूँगी। कहानीका विषय तो बता, क्या है?

बाँसुरी—हीरोका नाम है सर चन्द्रशेखर। नायिका है पंकजा, धनकुवेरका मन हरनेके लिए कमर कस ली है। पर कसनेकी बजाय ढिलाई ही ज्यादा है। सेण्ट-ऐण्टॉनीका 'टेम्प्टेशन' चित्र देखा है न? दिनपर दिन नया-नया बेहयापन! तेरे छुआछुतकी बीमारी ज्यादा नहीं, फिर भी घड़ी-घड़ी तू गंगा नहाने दौड़ती! दो नम्बरकी नायिका गला फाड़-फाड़कर मरना चाहती है पंक-कुण्डके किनारे खड़ी-खड़ी। अन्तमें एक दिन पूसके महीनेमें आधी रातको पिछवाड़ेके तलाबमें जाकर, – तू सोचती होगी अभागी आत्महत्या करके जी गई, क्षितीशकी कल्पनाके साथ अन्याय न कर, – नायिका एक सीढ़ी उत्तरी; किन्तु ठण्डे पानीमें पैर देते ही तुरंत उसके रोंगटे खड़े हो गये। सीधी भाग आई गरम बिस्तरपर। यहाँ मनोविज्ञानका तर्क इतना ही है कि 'जाड़ा लगनेसे ही मरना मुलतवी रखा अथवा जाड़ेकी वजहसे ही गरम चीजकी बात दिमागमें आई, और उसी वक्त सोचा कि जिन्दा रहकर ही वह नायकका जी जलाती रहेगी?'

लीला—मैं तो किसी तरह समझ ही नहीं पाती कि और-सबोंको छोड़कर क्षितीशपर ही तू इतना भरोसा क्यों रखती है!

बाँसुरी—यह तेरा अन्याय है लेखकपर। उनमें लिखनेकी शक्ति है। क्षितीशको मैं अपने मैमनसिंहके बगीचेका आम समझती हूं, जात ऊंची है; पर हजार कोशिश करनेपर भी भीतरके कीड़े दूर नहीं किये जा सके। कीड़ोंको अलग करके बाकीका हिस्सा काममें आ सकता है या नहीं, यही सोच रही हूं। लो, आ गये क्षितीश बाबू।

लीला—मैं चल दी।

बाँसुरी—बिलकुल ही चली जायगी ? शाम तो बितानी होगी किसी तरह। कॉमिक कहानी तो खतम हो चली।

लीला—कॉमिक-कहानीकी एवजी बनना पड़ेगा क्या मुझे ? अच्छा, बगलके कमरेमें हूं मैं, जाऊंगी नहीं। [प्रस्थान

क्षितीशका प्रवेश

क्षितीश—कैसा लगा ? मेलोड्रामाकी खाद नहीं मिलाई रत्ती-भर भी। सेन्टिमेन्टैलिटी (भावुकता) का तरल रस चाहिए जिन बच्चियोंको, उनके लिए निर्जला एकादशी है। एकदम निष्ठुर सत्य !

बाँसुरी—कैसा लगा समझाये देती हूं ! (कापी फाड़ देती है)

क्षितीश—अरे, यह किया क्या ! सत्यानास कर दिया ! यह मेरी सर्वश्रेष्ठ रचना थी, नष्ट कर दी !

बाँसुरी—दस्तावेज नष्ट कर देनेसे फिर सर्वश्रेष्ठ चीजकी कोई बला नहीं रह जाती। तुम्हें कृतज्ञ होना चाहिए मेरा।

क्षितीश—साहित्यमें खुद तो कुछ देनेकी सामर्थ्य नहीं, और ऊपरसे तुर्रा यह कि दूसरेकी कृति मनकी-सी न हुई तो उसे नष्ट कर देना ! इसकी कीमत देनी होगी तुम्हें, मैं हरगिज नहीं छोड़नेका।

बाँसुरी—बताओ कीमत, क्या चाहते हो ?

क्षितीश—तुम्हें।

बाँसुरी—हरजाना इतना सस्ता, – हिम्मत है लेनेकी ?

क्षितीश—है।

बाँसुरी—सेन्टिमेन्टकी एक बूंद भी नहीं मिलनेकी।

क्षितीश—आशा भी नहीं करता।

बाँसुरी—निर्जला एकादशी, निष्ठुर सत्य है !

क्षितीश—राजी हूं।

बाँसुरी—हो राजी ? समझ-सोचकर कह रहे हो ? यह कॉमिक कहानी

नहीं है, गलती करनेसे फिर प्रूफमें नहीं सुधारा जा सकता ; और, संस्करण भी नहीं खतम होनेका मरनेके दिन तक !

क्षितीश—बच्चा नहीं मैं ; इतना समझता हूं।

बाँसुरी—नहीं महाशयजी, कुछ नहीं समझते, समझना होगा दिन-दिन पग-पग, समझना होगा हड्डी-हड्डीमें मज्जा-मज्जामें !

क्षितीश—वही होगा मेरे जीवनका सबसे बड़ा अनुभव।

बाँसुरी—तो सुनो, बताती हूं। अबोधोंपर स्त्रियोंका स्वाभाविक स्नेह होता है। तुमपर कृपा है मेरी। इसीसे, नासमझोंकी तरह तुमने जो अपने सर्वनाशका प्रस्ताव किया है उसपर सम्मति देनेमें दया आती है।

क्षितीश—सम्मति न देनेसे जबरदस्त निर्दयता होगी। फिर सम्हाल न सकोगी।

बाँसुरी—मेलोड्रामा ?

क्षितीश—नहीं, मेलोड्रामा नहीं।

बाँसुरी—क्रमशः मेलोड्रामा तो न कर डालोगे ?

क्षितीश—अगर ऐसा हो तो उन दिनोंको मेरी इस कापीकी तरह फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर डालना।

बाँसुरी (खड़ी होकर)—अच्छा, दी सम्मति। (क्षितीश दौड़ आया बाँसुरीके पास)–लो शुरू कर दिया न ! अच्छी तरह सोच देखो, अब भी पीछे हटनेका समय है।

क्षितीश (हाथ जोड़कर)—माफ करो, मुझे डर लगता है, बादमें कहीं मत न बदल जाय।

बाँसुरी—जब बदले तब डर करना। इस तरह मेरे मुँहकी तरफ देखते न रह जाओ। देखनेमें भद्दा लगता है। जाओ रजिस्ट्री आफिसमें। तीन चार दिनके अन्दर ब्याह होना ही चाहिए।

क्षितीश—नोटिशकी मियाद घटानेमें अगर कोई कानूनी रुकावट हो ?

बाँसुरी—तो ब्याहमें भी रुकावट आयेगी। देर करनेकी हिम्मत नहीं होती।

क्षितीश—और, अनुष्ठान ?

बाँसुरी—नहीं होगा अनुष्ठान। देखती हूं, तुम्हारा कॉमिककी तरफ ज्यादा झुकाव है। अभी तक समझे नहीं कि बात सीरियस है !

क्षितीश—किसीको निमन्त्रण ?

बाँसुरी—किसीको नहीं।

क्षितीश—किसीको भी नहीं ?

बाँसुरी—अच्छा, सोमशंकरको।

क्षितीश—कैसी चिट्ठी लिखी जायगी, उसका एक मसौदा—

बाँसुरी—मसौदेकी क्या जरूरत, लिखे ही देती हूँ न।

क्षितीश—अपने हाथसे ?

बाँसुरी—हाँ, अपने हाथसे।

क्षितीश—आज ही ?

बाँसुरी—हाँ, अभी तुरत। (चिट्ठी लिखकर) यह लो, पढ़ो।

क्षितीशका पढ़ना—"पत्र द्वारा सूचना दी जाती है कि श्रीमती बाँसुरी सरकारके साथ श्रीयुत क्षितीशचन्द्र भौमिकका शीघ्र ही विवाह होना स्थिर हुआ है। तारीख जताना अनावश्यक है। आपका अभिनन्दन प्रार्थनीय है। पत्र-द्वारा विज्ञप्ति दी गई, इस त्रुटिके लिए क्षमा कीजियेगा। इत्यलम्।"

बाँसुरी—यह चिट्ठी अभी तुरत राजाके दरवानके हाथ दे आना। देर न करना। [क्षितीशका प्रस्थान

बाँसुरी—लीला, सुन, यहाँ आ, नई खबर सुन जा !

लीलाका प्रवेश

लीला—क्या खबर है ?

बाँसुरी—बाँसुरी सरकारके साथ क्षितीश भौमिकका ब्याह पक्का हो गया।

लीला—अः, क्या कहती है जिसका ठिकाना नहीं।

बाँसुरी—इतने दिन बाद आज एक ठिकाना हुआ।

लीला—यह तो आत्महत्या है।

बाँसुरी—उसके बाद है पुनर्जन्मका प्रथम अध्याय।

लीला—सबसे बढ़कर दुःख इस बातका है कि जो ट्रैजिडी है वह दिखाई देगा प्रहसन!

बाँसुरी—ट्रैजिडीकी लज्जा दूर हो जायगी हँसी-मजाकमें। अश्रुपातसे बढ़कर अगौरव और कुछ नहीं।

लीला—हमारे राशिचक्रसे टूट पड़ा एक सबसे उज्ज्वल तारा। अगर उसकी ज्वाला बुझ जाती तो मैं शोक न करती। ज्वाला जो वह अपने साथ ही ले चला अन्धकारके भीतर।

बाँसुरी—कोई हर्ज नहीं, डार्क हीट है, काली आग है वह, किसीके नजर न आयेगी। मेरे लिए शोक न कर बहन, मेरा जो साथी होने चला है शोचनीय वही है। – यह क्या! शंकर यहाँ क्यों! तू जा बहन, उस कमरेमें बैठ जरा। [लीलाका प्रस्थान

सोमशंकरका प्रवेश

सोमशंकर—बाँसुरी!

बाँसुरी—तुम यहाँ!

सोमशंकर—निमन्त्रण देने आया हूं। मुझे मालूम है उस पक्षसे तुम्हें नहीं बुलाया गया। मेरी तरफसे कोई संकोच नहीं।

बाँसुरी—कोई संकोच नहीं! उदासीनता?

सोमशंकर—तुमसे जो-कुछ पाया है मैंने, और मैंने जो-कुछ दिया है तुम्हें, यह विवाह उसे कभी स्पर्श भी नहीं कर सकता, यह तुम निश्चय जानती हो।

बाँसुरी—तो ब्याह क्यों करना चाहते हो?

सोमशंकर—इस बातको अगर न भी समझ सको, तो भी दया करना मुझपर।

बाँसुरी—फिर भी, कहते जाओ तुम। समझनेकी कोशिश करूंगी।

सोमशंकर—कठोर व्रत लिया है मैंने। किसी दिन अपने-आप प्रकट

होगा, आज रहने दो ; दुःसाध्य है मेरा संकल्प, क्षत्रियके योग्य है। किसी एक संकटके दिन समझ जाओगी कि वह व्रत प्यारसे भी बड़ा है। उसे सम्पन्न करना ही होगा मुझे, चाहे प्राण ही क्यों न देने पड़ें।

बाँसुरी—मुझे साथ लेकर सम्पन्न नहीं कर सकते थे ?

सोमशंकर—अपनेको कभी भी तुम गलत नहीं समझने देतीं, बाँसुरी! तुम निश्चित जानती हो कि तुम्हारे सामने मैं दुर्बल हूं। सम्भव था कि तुम्हारा प्यार मुझे डिगा देता अपने व्रतसे। जिस दुर्गम मार्गसे सुषमाके साथ संन्यासीने मुझे यात्रामें प्रवृत्त किया है वहाँ प्यारका आना-जाना बिलकुल बन्द है।

बाँसुरी—हो सकता है कि संन्यासीने ठीक ही समझा हो। तुमसे भी तुम्हारे व्रतको मैं बड़ा नहीं समझ सकती थी। सम्भव कि वहीं संघात शुरू हो जाता। आज तक तुम्हारे व्रतके साथ ही मेरी शत्रुता थी ; – तो फिर इस शत्रुके दुर्गमें आनेकी तुमने हिम्मत कैसे की ? एक दिन जिस शक्तिको तुमने मेरे अन्दर देखा था, आज क्या उसका कुछ भी बाकी नहीं बचा ? डर नहीं लगता ?

सोमशंकर—शक्ति जरा भी नहीं घटी, फिर भी डर नहीं मुझे जरा भी।

बाँसुरी—अगर मैं टोकूं, अपनी शक्तिसे पीछेको खींचूं, तो उससे बचके निकल सकोगे तुम ?

सोमशंकर—मालूम नहीं, सम्भव है न निकल सकूं।

बाँसुरी—तो फिर ?

सोमशंकर—मेरा तुमपर विश्वास है। मेरा सत्य कभी भी नष्ट नहीं हो सकता तुम्हारे हाथसे। संकटके मुंहमें जाते समय मुझे हेय नहीं कर सकतीं तुम। निश्चित जानती हो तुम, सत्य-भंग होनेपर मैं प्राण नहीं रख सकता अपने। मर जाऊंगा तुषानलमें जलकर।

बाँसुरी—शंकर, तुम क्षत्रियों-जैसा ही प्यार कर सकते हो। सिर्फ भावसे ही नहीं, वीर्यसे। सच-सच बताओ, आज भी क्या तुम मुझे उस दिनकी तरह ही उतना ही प्यार करते हो ?

सोमशंकर—उतना ही।

बाँसुरी—और कुछ नहीं चाहती मैं। सुषमाको लेकर पूर्ण हो तुम्हारा व्रत, उससे ईर्षा नहीं करूंगी।

सोमशंकर—एक बात और बाकी है।

बाँसुरी—क्या, बताओ ?

सोमशंकर—अपने प्यारका कुछ चिह्न रखे जाता हूं तुम्हारे पास, लौटा नहीं सकतीं तुम। (गहनोंकी थैली निकाल ली)

बाँसुरी—यह क्या, यह-सब तो पानीमें डूब चुका था !

सोमशंकर—डुबकी लगाकर फिर निकाल लाया हूं।

बाँसुरी—सोचा था मेरा सब-कुछ खो गया। आज वापस पाकर उससे कहीं ज्यादा पा गई मैं। अपने हाथसे पहना दो मुझे। (सोमशंकर गहने पहना देता है)—कठिन हैं मेरे प्राण। तुम्हारे आगे भी कभी रोई होऊं, याद नहीं पड़ता ; आज अगर रोऊं तो कुछ खयाल न करना। (माथेपर हाथ रखकर रोती है)

नौकरका प्रवेश

नौकर—राजा साहबकी चिठ्ठी है। [चिठ्ठी देकर प्रस्थान

बाँसुरी (उठके खड़ी होकर)—शंकर, यह चिठ्ठी मुझे दो।

सोमशंकर—बगैर पढ़े ही ?

बाँसुरी—हाँ, बगैर पढ़े ही।

सोमशंकर—तो लो। (बाँसुरी चिठ्ठी फाड़ फेंकती है)—अब भी एक काम बाकी है। तुमने अपना यह सिगरेट-केस मंगवाया था। क्यों, मैं समझ न सका ?

बाँसुरी—और-एक बार तुम्हारी जेबमें रखनेके लिए। यह मेरा द्वितीय बारका दान है।

सोमशंकर—संन्यासी-बाबा मेरे घरपर आनेवाले हैं अभी ; विदा दो, जाऊं उनके पास।

बाँसुरी—जाओ, जय हो संन्यासीकी। [सोमशंकरका प्रस्थान

लीलाका प्रवेश

लीला—क्या बहन—

बाँसुरी—बैठ जरा। और-एक चिट्ठी लिखना बाकी है, तुझे पहुंचानी होगी यथास्थान। (चिट्ठी लिखकर लीलाको देती है) – जरा पढ़ देख।

चिट्ठी

"स्नेहास्पद श्री क्षितीशचन्द्र भौमिक,

तुम्हारे भाग्य अच्छे हैं, अलप कट गई, बच गये तुम; मैंने भी अपने विवाहके आसन्न संकटको बिलकुल लुप्त कर दिया। 'प्यारके नीलाम' में सबसे ऊँची कीमत मिली है, तुम्हारी डाक वहाँ तक नहीं पहुंचती। अन्यत्र और-कोई सान्त्वनाका मौका फिलहाल हाथ न आये तो किताब लिखो। आशा है अबकी बार सत्यसे तुम्हारा परिचय हो जायगा। तुम्हारे लिखनेमें बाँसुरीके प्रति दया करनेकी जरूरत नहीं होगी। आत्महत्याकी पहली सीढ़ीमें कदम रखनेसे पहले ही वह लौट आई है।"

लीला (बाँसुरीसे लिपटकर)—ओःफ्, जान बची और लाखों पाये। खूब बचाया बहन! सुषमापर अब तो गुस्सा नहीं न?

बाँसुरी—क्यों रहेगा? वह क्या मुझसे जीती है? लीला, दे बहन, सब दरवाजे खोल दे, सब बत्तियाँ जला दे। बगीचेसे, जितने भी फूल मिलें, सब ले आ। [लीलाका प्रस्थान

पुरन्दरका प्रवेश

बाँसुरी—यह क्या संन्यासी, तुम मेरे घरपर!

पुरन्दर—चला जा रहा हूं बहुत दूर, सम्भव है फिर कभी भेंट न हो।

बाँसुरी—जाते समय मेरी बात याद आई?

पुरन्दर—तुम्हारी बात कभी भी नहीं भूला। भूलने-लायक तुम कतई नहीं। हमेशा इस बातका खयाल रहा है मनमें कि हमें तुम्हारी जरूरत है; दुर्लभ दुःसाध्य हो तुम, इसीसे दुःख दिया है तुम्हें।

बाँसुरी—नहीं दे सके दुःख मुझे। मरना कठिन नहीं, इसकी पहली शिक्षा पाली है मैंने। किन्तु तुमसे एक आखिरी बात कहूंगी संन्यासी, सुनो। सुषमाको तुम प्यार करते हो, सुषमा जानती है इस बातको। तुम्हारे प्यारके सूतमें गूंथकर उसने व्रतका हार पहना है गलेमें, उसे फिकर क्या है! सच है या नहीं बताओ?

पुरन्दर—सच है या झूठ, इस बातके कहनेमें कोई लाभ नहीं, दोनों ही समान हैं।

बाँसुरी—सुषमाके भाग्य अच्छे हैं, किन्तु सोमशंकरको तुमने क्या दिया?

पुरन्दर—वह पुरुष है, क्षत्रिय है, तपस्वी है।

बाँसुरी—हुआ करे पुरुष, हुआ करे क्षत्रिय, उसकी तपस्या अधूरी रहेगी मेरे बगैर; जरूरत है उसे मेरी।

पुरन्दर—वंचित होनेका दुःख ही देगा उसे शक्ति।

बाँसुरी—हरगिज नहीं, बल्कि वही उसके व्रतको कर देगा पंगु। जो उस क्षत्रियको शक्ति दे सकती थी ऐसी सिर्फ एक ही स्त्री है इस संसारमें।

पुरन्दर—जानता हूं।

बाँसुरी—वह सुषमा नहीं है।

पुरन्दर—यह भी जानता हूं। किन्तु उस वीरकी शक्ति हरण कर सकती है ऐसी भी एकमात्र स्त्री है इस संसारमें।

बाँसुरी—आज अभय देती है वह। अपनी अन्तरात्मामें उसने अपने आप ही प्राप्त कर ली है दीक्षा। उसका बन्धन दूर हो गया, अब वह बाँधेगी नहीं।

पुरन्दर—तो आज जाते समय निःसंकोच होकर उसीके हाथमें दिये जाता हूं सोमशंकरके दुर्गम पथका पाथेय!

बाँसुरी—अब तक मेरे जितने भी प्रणाम बाकी थे, सब इकट्ठे करके आज तुम्हारे चरणोंमें चढ़ाती हूं।

पुरन्दर—और मैं दिये जाता हूं तुम्हें एक गीत, इसे अपने कण्ठमें ग्रहण करो।

गीत

अब तो पिनाकमें हुई घोर टङ्कार !
वसुधा-पञ्जरमें होते हैं कम्पित शङ्काके तार।

नभमें मँड़राती घूर्णित वायु प्रचण्ड
कर निखिल सृष्टिके बन्धन खण्ड-विखण्ड,
कर रही प्रलयकी जय-भेरी पवि-गर्जन घोर अपार।

क्रन्दन करता है सुख-सुषमामय स्वर्ग,
बन्दी है सारा देव - सभासदवर्ग
तमसावृत दुःसह रजनीमें है शृङ्खलकी झङ्कार।

दानव - दल - बलकी अहम्मन्यता तर्ज
सक्रोध पिनाककी रुद्र उठे हैं गर्ज,
जा मिला धूलमें नभ-भेदी सब अहङ्कार हो छार।
अब तो पिनाकमें हुई घोर टङ्कार !

साहित्य-धर्म

कोतवालका बेटा, सौदागरका बेटा और राजपुत्र तीनों निकले राजकुमारीकी तलाशमें। वास्तवमें राजकुमारी नामकी जो एक सत्य वस्तु है, तीन प्रकारकी बुद्धियोंने तीन मार्गोंसे उसकी खोज शुरू कर दी।

कोतवालके बेटेकी जासूसी बुद्धि है, जो सिर्फ पूछताछ किया करती है। करते-करते राजकन्याके नाड़ी-नक्षत्रकी टोह लगी। उसके रूपकी ओटमेंसे निकला शरीर-तत्त्व, और गुणके आवरणसे निकला मनस्तत्त्व। परन्तु इस तत्त्वके इलाकेमें उसकी कीमत संसारकी और-सब कन्याओंके समान है; कंडे बीननेवालीमें और उसमें कोई भेद ही नहीं। यहाँ वैज्ञानिक या दार्शनिक उसे जिस दृष्टिसे देखेंगे, उस दृष्टिमें रस-बोधकी शक्ति नहीं; है केवल जिज्ञासा-भाव।

और-एक पहलूसे देखो तो राजपुत्री बड़ी कमेरी है; वह राँधती है, परोसती है, सूत कातती है, फूलदार कपड़े बुनती है। यहाँ सौदागरका बेटा उसे जिस निगाहसे देखता है, उस निगाहमें न तो रस है और न प्रश्न; है सिर्फ रुपयोंका हिसाब।

राजपुत्र वैज्ञानिक नहीं है, अर्थशास्त्रकी परीक्षामें भी वह उत्तीर्ण नहीं हुआ, उसने उत्तीर्ण की है चौबीस वर्षकी उमर और बड़े-बड़े मैदान। दुर्गम मार्ग पार किया है सो ज्ञानके लिए नहीं, धनके लिए नहीं, सिर्फ राजकुमारी ही के लिए। इस राजकन्याका स्थान लैबॉरेटरीमें नहीं, हाट-बाजारमें नहीं, हृदयके उस वसन्त-लोकमें है जहाँ काव्यकी कल्पलतामें फूल खिलते हैं। जिसे जान नहीं सकते, जिसके नामका निर्णय नहीं किया जा सकता, वास्तविक व्यवहारमें जिसकी कोई कीमत नहीं, जिसका सिर्फ एकान्त भावसे अनुभव किया जा सकता है, साहित्य-कलामें और रस-कलामें उसीका प्रकाश है। इस कला-जगत्में जिसका प्रकाश है, कोई भी समझदार उसे धक्का देकर नहीं पूछता कि 'तुम क्यों हो?' वह कहता है, 'तुम तुम्हीं हो, इतना ही मेरे

लिए काफी है।' राजपुत्रने भी राजकुमारीके कानोंमें यही बात कही थी। यही बात कहनेके लिए शाहजहाँको 'ताजमहल' बनवाना पड़ा था।

जिसे सीमामें बाँध सकें उसका नाम भी रखा जा सकता है; किन्तु जो सीमाके बाहर है, जो पकड़ने या छूनेमें नहीं आ सकता, उसे बुद्धि-द्वारा नहीं पाते, बोधके अन्दर पाते हैं। उपनिषद्ने ब्रह्मके सम्बन्धमें कहा है, 'न तो उन्हें मनमें पाते हैं और न वचनमें, उन्हें जब पाते हैं तब आनन्दके अनुभवमें। तब कोई चिन्ता नहीं रहती।' हमारी यह अनुभवकी भूख आत्माकी भूख है। आत्मा इसी अनुभवसे अपनेको पहचानती है। जिस प्रेमसे, जिस ध्यानसे, जिस दर्शनसे सिर्फ यह अनुभव या बोधकी भूख मिटती है, वही स्थान पाता है साहित्यमें और रूपकलामें।

दीवारोंसे घिरा-हुआ आकाशका टुकड़ा हमारे आफिस-रूमके अन्दर बिलकुल गिरफ्तार हो गया है। कट्ठे और बीघेके भावपर उसकी खरीद-बिक्री हो सकती है, और वह किरायेपर भी उठाया जा सकता है। किन्तु उसके बाहर जिस अखण्ड आकाशमें ग्रह-ताराओंका मेला लग रहा है, उसकी असीमताका आनन्द सिर्फ हमारे अनुभवमें ही है। जीव-लीलाके लिए वह आकाश महज एक ज्यादती है, जमीनके अन्दरका कीड़ा इसी बातका सबूत देता है। संसारमें मानव-कीड़ा भी है, – आकाशकी कृपणता उसे अखरती नहीं। जो मन मतलबकी दुनियाके सीखचोंके बाहर पंख पसारे बिना जी नहीं सकता, वह मन उसका मर चुका है। उस मरे मनके आदमीके ही भूतका कीर्तन देखकर कविने डरके चतुराननकी दुहाई देकर कहा है—

अरसिकेषु रसस्य निवेदनम्
शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख।

परन्तु कहानीके राजकुमारका मन ताजा है। इसीसे, नक्षत्र-रूपी नित्य दीपोंसे विभासित महाकाशमें जो अनिर्वचनीयता है, उसे उसने राजकुमारीमें देखा था। राजकुमारीके साथ उसका व्यवहार इस अनुभवके ही अनुसार है। दूसरोंका व्यवहार दूसरी तरहका है। प्रेममें पड़कर राजकुमारीके हृदयका स्पन्दन किस छन्दकी मात्राओंपर चलता है, – इसे

नापनेके लिए, वैज्ञानिक अभावके कारण, एक टीनका चोंगा काममें लगानेमें भी उसे कोई तकलीफ नहीं मालूम होती। राजकुमारी अपने हाथोंसे दूधमेंसे जो मक्खन मथकर निकालती है, सौदागरका बेटा उसे चौखूँटी टीनमें भरकर बाजारमें भेजकर खूब खुश होता है। परन्तु राजकुमारको यदि स्वप्नमें भी उस राजकन्याके लिए टीनके बाजूबन्द बनवानेका आभास मिलता, तो अवश्य ही उसका दम घुटने लगता और वह पसीनेसे तर हो जाता। नींदसे जगते ही सोना अगर न भी मिलता, तो कम-से-कम चम्पाकी कलीकी तलाशमें उसे निकलना ही पड़ता।

इसीसे समझ सकते हैं कि साहित्य-तत्त्वको अलंकार-शास्त्र क्यों कहा जाता है। वह भाव, वह भावनाएँ, वह आविर्भाव, जिन्हें प्रकट करते-हुए अलंकार अपने-आप आ जाता है, तर्कसे जिसका प्रकाश नहीं होता, वही साहित्यकी अपनी चीज है।

अलंकार ही चरमकी प्रतिमूर्ति है। माता शिशुमें पाती है रस-बोधकी चरमता; अपने इस एकान्त बोधको वह साज-पोशाकमें बच्चेकी देहमें अनुप्रकाशित कर देती है। नौकरको देखते हैं हम आवश्यकताकी बँधी-हुई सीमामें, बँधी-हुई तनखासे ही उसका मूल्य चुक जाता है; और बन्धुको देखते हैं हम असीममें; इसीसे हमारी भाषामें, कंठके स्वरमें, हँसीमें, व्यवहारमें अलंकार अपने-आप जाग उठता है। साहित्यमें इस बन्धुकी बात अलंकृत वाणीमें है। उस वाणीकी संकेत-झंकारमें बजता रहता है, 'अलम्' अर्थात् 'बस अब रहने दो।' यह अलंकृत वाक्य ही असलमें 'रसात्मक वाक्य' है।

अंगरेजीमें जिसे real कहते हैं, उसे हम हिन्दीमें कहते हैं यथार्थ अथवा सार्थक। 'साधारण सत्य' एक चीज है और 'सार्थक सत्य' दूसरी। साधारण-सत्यमें बिलकुल काट-छाँट नहीं है; सार्थक सत्य है हमारा चुना हुआ। मनुष्य-मात्र ही साधारण-सत्यके कोठेमें पाये जाते हैं, किन्तु यथार्थ मनुष्य 'लाखोंमें न मिला एक भी।' करुणाके आवेगमें वाल्मीकिके मुँहसे जब छन्द उच्छ्वसित हो उठा, तब उस छन्दको धन्य करनेके लिए नारद ऋषिके

पास जाकर उन्होंने एक यथार्थ मनुष्यकी टोह लगाई थी। क्योंकि छन्द अलंकार है। यथार्थ-सत्य वास्तवमें दुर्लभ ही हो, सो बात नहीं। परन्तु हमारा मन जिसमें अर्थ नहीं पाता, हमारे लिए वह अयथार्थ है। कविके चित्तमें, रूपकारके चित्तमें, इस यथार्थ-बोधकी सीमा बहुत बड़ी है, इसलिए सत्यके सार्थक रूपको वे बहुत व्यापक करके दिखा सकते हैं। जिस चीजके अन्दर हम सम्पूर्णको देखते हैं वही चीज सार्थक है। कंकड़का एक टुकड़ा हमारे लिए कुछ भी नहीं है, एक पद्म हमारे लिए सुनिश्चित है। किन्तु फिर भी कंकड़ पैरोंमें लगकर हमें अपना स्मरण करा देता है, किरकिरी आँखोंमें पड़ जाय तो उसे निकलवानेके लिए वैद्य बुलाना पड़ता है, खानेकी चीजमें गिर जाय तो दाँत किसकिसा जाते हैं; तो भी हमारे लिए उसके सत्यकी पूर्णता नहीं है। पद्म कोहनी या कटाक्षसे धक्के नहीं देता, फिर भी हमारा सम्पूर्ण मन उसे अपने-आप आगे बढ़कर मान लेता है।

हमारा जो मन वरणीयका वरण कर लेता है उसकी शुचि-वायु (परहेज) का परिचय कराते हैं। सहिजनके फूलमें सुन्दरताकी कमी नहीं, फिर भी ऋतुराजके राज्याभिषेकका मंत्र पढ़ते समय कविगण सहिजनके फूलका नाम तक नहीं लेते। वह तो हमारा खाद्य है, इस खर्वतासे कविके समक्ष भी सहिजन अपने फूलकी यथार्थता खो बैठा। ढाकका फूल, बैंगनका फूल, कुम्हड़ेका फूल, ये सब काव्यके बाहरके द्वारपर मुँह नीचा किये खड़े रहे; रसोई-घरने उनकी इज्जत रख ली। कविकी बात छोड़ दो, कविकी सीमन्तिनी भी अलकोंपर सहिजनकी मंजरी लटकानेमें दुबिधा करती है; ढाकके फूलकी माला उसकी वेणीपर लपेटनेसे कोई हर्ज नहीं होता, परन्तु यह बात उसके मनमें भी नहीं आती। कुन्द है, तगर है, उनमें भी सुगंध नहीं है, फिर भी अलंकार-विभागमें उनके लिए द्वार खुला है; क्योंकि पेटकी भूखने उनपर हाथ नहीं फेरा। बिम्बफल यदि झोर-तरकारीके काम आता, तो सुंदरीके अधरोंके साथ उसकी उपमा अग्राह्य होती। तीसी और सरसोंके फूलोंमें रूपका ऐश्वर्य बहुत है, फिर भी बाजारके रास्तेमें उनकी चरम गति होनेसे कवि-कल्पना उनके नम्र नमस्कारका उत्तर नहीं देना चाहती। शिरीष-फूल

और गुलावजामुनके फूलमें रूप और गुणका कोई अन्तर नहीं, फिर भी काव्यकी पंक्तिमें एकका कौलीन्य जाता रहा ; क्योंकि गुलावजामुनका नाम भोजन-लोभ द्वारा लांछित है। जिस कविमें साहस है, सुन्दरके समाजमें वह जातिका विचार नहीं करता। इसीलिए कालिदासके काव्यमें कदम्ब-वनकी एक श्रेणीमें खड़े होकर श्यामजम्बु-वनान्तने भी आषाढ़का स्वागत ग्रहण किया है। काव्यमें सौभाग्यवश किसी शुभक्षणमें रसज्ञ देवताओंके विचारसे मदनके तूणमें आम्र-मुकुलको स्थान मिल गया है। शायद अमृतकी कमी न होनेके कारण ही आम्रपर देवताओंका लोभ नहीं है। स्वच्छ पानीके नीचे मछलियोंका तैरना और किलोलें करना आकाशमें पक्षी उड़नेकी अपेक्षा कम सुन्दर नहीं होता ; परन्तु मछलीका नाम लेते ही आमिषभोजी पाठकोंका रस-बोध क्षणमें कहीं रसनाकी तरफ न दौड़ने लगे, इस डरसे छन्दके बन्धनमें बाँधकर उसे काव्यके किनारे पहुँचाना दुःसाध्य हो गया। किसी काममें नहीं आता इसलिए मकर बच गया। उसे वाहनोंमें शामिल कर लेनेमें देवी-जाह्नवीका गौरव नहीं घटा, चुनाव करते वक्त मछलीका नाम जवानपर नहीं आया। उसकी पीठपर स्थानाभाव या हड्डियोंमें जोर कम होनेसे ऐसा हुआ हो, यह बात मानें कैसे ? क्योंकि लक्ष्मी-सरस्वतीने जब कमलको अपना आसन चुना था तब उसकी कमजोरी या कोताहीका उन्हें ध्यान भी न था।

यहाँपर चित्रकलाके लिए सुगमता है। अरुईके पेड़का चित्र खींचनेमें चित्रकारकी तूलिकाको संकोच नहीं है। किन्तु वनकी शोभाका वर्णन करते हुए काव्यमें अरुईका नाम लेना मुश्किल है। मैं स्वयं जाति-माननेवाले कवियोंमें नहीं हूँ, फिर भी बाँसकी झाड़ियोंकी बात मनमें उदित होनेपर 'वेणुवन' कहकर सम्हाल लेना पड़ता है। शब्दोंके साथ नित्य व्यवहारमें आनेवाले भाव मिले रहते हैं। इसीसे काव्यमें कुड़चीके फूलका नाम लेते समय कुछ संकोच किया है, परन्तु उसका चित्र खींचते समय चित्रकारकी तूलिकाकी मानहानि नहीं होती।

यहाँपर एक बात कह देना आवश्यक है, यूरोपीय कवियोंके मनमें शब्द-सम्बन्धी शुचिताका संस्कार इतना प्रबल नहीं है। उनकी दृष्टिमें नामकी

अपेक्षा वस्तुका मूल्य ही अधिक है। इसीसे काव्यमें नाम-व्यवहारके सम्बन्धमें उनकी लेखनीमें हमारी अपेक्षा कम बाधाएँ हैं।

कुछ भी हो, यह ठीक है कि जिस चीजको हम काममें लगाना चाहते हैं उसे यथार्थके रूपमें नहीं देखते। प्रयोजनकी छायासे वह राहुग्रस्त हो जाती है। कोठार और रसोईघरकी गृहस्थको रोज आवश्यकता पड़ती है, परन्तु संसारके लोगोंसे वह उन्हें छिपाये रखनेकी कोशिश करता है। बैठकके बिना भी काम चल सकता है, फिर भी उसी घरमें तमाम साज-सरंजाम है, पूरी सजावट है, घरका मालिक उसी घरमें तसवीरें टाँगकर कार्पेट बिछाकर उसपर हमेशाके लिए अपनी छाप मार देना चाहता है। उस घरको उसने खास तौरसे चुना है। उसीके द्वारा वह सबसे परिचित होना चाहता है, अपनी व्यक्तिगत महिमासे। वह खाता है या खाद्य संचय करता है, इस बातसे उसके व्यक्ति-स्वरूपकी सार्थकता नहीं है। उसका गौरव एक विशिष्टता लिये-हुए है – इस बातको वह बैठकसे जाहिर कर सकता है। इसीलिए उसकी बैठक अलंकृत है।

जीव-धर्ममें मनुष्य और पशुमें कोई प्रभेद नहीं माना है। आत्मरक्षा और वंश-रक्षाकी प्रवृत्ति दोनों ही की प्रकृतिमें प्रबल है। प्रवृत्तिमें मनुष्य मनुष्यत्वकी सार्थकता अनुभव नहीं करता। यही कारण है कि भोजनकी इच्छा और सुख कितना ही प्रबल क्यों न हो, कितना ही व्यापक क्यों न हो, साहित्य और अन्य कलाओंमें व्यंगके सिवा श्रद्धाकी दृष्टिसे उसको स्वीकार नहीं किया गया। मनुष्यमें आहारकी इच्छा प्रबल सत्य तो है, किन्तु सार्थक सत्य नहीं है। पेट भरनेके मामलेको मनुष्यने अपने कलालोकको अमरावतीमें स्थान नहीं दिया।

स्त्री-पुरुषका मिलन भोजनके मामलोंसे बिलकुल अलग ऊपरके कोठेमें है; क्योंकि उसके साथ हृदयके मिलनका गहरा सम्बन्ध है। जीव-धर्मके मूल-प्रयोजनकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह गौण है; परन्तु मनुष्यके जीवनमें मुख्यको वह बहुत दूर छोड़ गया है; प्रेमका मिलन हमारे भीतर और बाहरको गहरी चेतनाकी दीप्तिसे प्रकाशमान कर देता है। वंशरक्षाके मुख्य

तत्त्वमें वह दीप्ति नहीं है। इसीसे शरीर-विज्ञानके कोठेमें ही उसका प्रधान स्थान है। स्त्री-पुरुषके मनके मिलनको प्रकृतिकी आदिम आवश्यकतासे अलग करके, उसे हम उसकी अपनी विशिष्टतामें ही देखते हैं। यही कारण है कि काव्य तथा और-सब प्रकारकी कलाओंमें उसने अपने लिए काफी जगह कर ली है।

मनुष्यकी दृष्टिमें यौन-मिलनकी जो चरम सार्थकता है वह 'प्रजनार्थ' नहीं है; क्योंकि वहाँ वह पशु है। सार्थकता है उसके प्रेममें। वहीं वह मनुष्य है। फिर भी, यौन-मिलनके जीवधर्म और मनुष्यके चित्तधर्म दोनोंमें सीमा-विभागको लेकर अकसर खटपट हुआ ही करती है।

साहित्य-क्षेत्रमें अपने तईं पूरी मालगुजारी वसूल करनेका दम भरकर पशुका हाथ और मनुष्यका हाथ दोनों एक ही साथ आगे बढ़ आते हैं। आधुनिक साहित्यमें इस बातपर दीवानी और फौजदारी मामले चलते रहते हैं।

ऊपर जो 'पशु'-शब्दका प्रयोग किया गया है वह नैतिक बुराई-भलाईके विचारसे नहीं, बल्कि मनुष्यके आत्म-बोधकी विशेष सार्थकताकी दृष्टिसे किया गया है। वैज्ञानिकोंका कहना है कि वंशरक्षा-घटित पशु-धर्म मनुष्यके मनुष्यत्वमें व्यापक और गम्भीर है। परन्तु, यह तो हुई विज्ञानकी बात, मनुष्यके ज्ञान और व्यवहारमें उसका मूल्य है। किन्तु रस-बोधको लिये-हुए जो साहित्य और कला है, वहाँ उस सिद्धान्तके लिए स्थान नहीं है। अशोकवनमें सीताको दुरारोग्य मैलेरिया हो जाना चाहिए था – यह बात भी विज्ञानकी है; संसारमें इस बातका जोर है, परन्तु काव्यमें नहीं। समाजके अनुशासनके विषयमें भी यही बात है। साहित्यमें यौन-मिलनके विषयमें जो तर्क उठ खड़ा हुआ है, सामाजिक हितबुद्धिकी दिशासे उसका समाधान नहीं होगा; उसका समाधान कला-रसकी दिशासे होगा। अर्थात् यौन मिलनके अन्दर जो दो विभाग हैं, मनुष्य उनमेंसे किसको अलंकृत करके नित्य कालका गौरव देना चाहता है, यही बात विचारणीय है।

बीच-बीचमें किसी-किसी युगमें बाह्य कारणोंसे कोई विशेष उत्तेजना प्रबल हो उठती है। वह उत्तेजना साहित्यके क्षेत्रपर अधिकार करके उसकी प्रकृतिको

अभिभूत कर देती है। योरोपके महायुद्धके समय उस युद्धकी चंचलता काव्यमें आन्दोलित हुई थी। किन्तु, उस सामयिक आन्दोलनका अधिकांश साहित्यका नित्य-विषय हो ही नहीं सकता, देखते-देखते वह विलीन हुआ जा रहा है। इंगलैण्डमें प्यूरिटन-युगके बाद जब चरित्र-शैथिल्यका समय आया तब वहाँका साहित्य-सूर्य अपने कलंक-लेखसे आच्छन्न हो गया था। परन्तु साहित्यका सौर-कलंक नित्यकालिक नहीं है। यथेष्ट मात्रामें वह कलंक रहनेपर भी प्रतिक्षण सूर्यकी ज्योतिके रूपमें उसका प्रतिवाद हुआ ही करता है। सूर्यकी सत्तामें उसकी अवस्थिति होनेपर भी उसकी सार्थकता नहीं है। सार्थकता है प्रकाशमें।

मध्ययुगमें किसी समय योरोपमें शास्त्र-शासनका खूब जोर था। उस समय उस शासनने विज्ञानको पराजित कर दिया था। सूर्यके चारों ओर पृथ्वी घूमती है, इस बातको कहते-हुए मुँह स्वयं अपनेको दाब लेता था; विज्ञानके क्षेत्रमें विज्ञानके एकाधिपत्यको वह भूल गया था। उसका सिंहासन धर्म-राज्यकी सीमाके बाहर था। आज उसके विपरीत वातावरण है। विज्ञान प्रबल हो उठा और अब वह कहीं भी अपनी सीमा नहीं मानना चाहता। उसके प्रभावने मानव-हृदयके समस्त विभागोंमें अपने पयादे भेज दिये हैं। नई शक्तिका तमगा पहनकर कहीं भी वह अनधिकार-प्रवेश करनेमें संकोच नहीं करता।

विज्ञान असलमें व्यक्ति-स्वभाव-वर्जित वस्तु है, उसका धर्म ही है सत्यके सम्बन्धमें अपक्षपात कौतूहल। इस कौतूहलके घेरेने यहाँके साहित्यको भी क्रमशः घेर लिया है। किन्तु साहित्यका विशेषत्व ही उसका पक्षपात-धर्म है; साहित्यकी वाणी स्वयंवरा है। विज्ञानका निर्विचार कौतूहल साहित्यके उस 'वरण कर लेने'के स्वभावको परास्त करनेके लिए तैयार है। आजकलके यूरोपीय साहित्यमें यौन-मिलनकी दैहिकताको लेकर जो एक उपद्रव-सा चल रहा है, उसकी प्रधान प्रेरणा वैज्ञानिक कौतूहल है। रेस्टोरेशन-युगमें यह थी लालसा। परन्तु जैसे उस युगकी लालसाकी उत्तेजनाको साहित्यका राजटीका हमेशाके लिए नहीं मिला वैसे ही आजकलके वैज्ञानिक कौतूहलकी उत्सुकता भी साहित्यमें हमेशा नहीं टिक सकती।

किसी जमानेमें हमारे देशमें जब नागरिकता खूब तप्त थी, तब भारतचन्द्रके 'विद्यासुन्दर' का यथेष्ट आदर देखा गया है। मदनमोहन तर्कालंकारके अन्दर भी इसकी काफी बू थी। उस जमानेके नागरिक साहित्यमें इस चीजकी भरमार देखी गई है। जो लोग, इस नशेमें चूर हो रहे थे, वे इस बातकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि उस समयके साहित्यकी रसीली लकड़ीका यह धुँआ ही प्रधान और स्थायी चीज नहीं है. बल्कि उसकी लौ ही असली चीज है। परन्तु आज देखते हैं, उस जमानेके साहित्यके अंगपर जो कीचड़की छाप पड़ी थी वह उसकी चमड़ीका रंग नहीं था। कालस्रोतकी धारामें आज उसका चिह्न तक नहीं दिखाई देता। याद है, जिस दिन ईश्वरचन्द्र गुप्तने बकरेपर कविता लिखी थी, उस दिन नये अंगरेज राजाके इस 'अचानक-शहर कलकत्ते' की बाबू-गोष्ठीमें उसकी कैसी प्रशंसा-ध्वनि उठी थी! आज पाठक उसे काव्यकी पंक्तिमें स्वभावतः ही स्थान न देंगे; पेटुकताका नीति-विरुद्ध असंयमित विचार करके नहीं, बल्कि इसलिए कि उनकी दृष्टिमें भोजन-लालसाका चरम मूल्य कुछ है ही नहीं।

वर्तमान समयमें हमारे साहित्यमें जो एक विदेशी अनुकरणका बेआबरूपनआ गया है, उसे भी यहाँके कोई-कोई सज्जन नित्यकी वस्तु समझते हैं। यहाँ वे भूलते हैं। जो नित्य है, वह अतीतका सम्पूर्ण विरोध नहीं करता। मनुष्यके रस-बोधमें जो आबरू है वही नित्य है; जो आभिजात्य है, रसके क्षेत्रमें वही नित्य है। आजकी विज्ञान-मदमत्त डिमोक्रेसी ताल ठोंककर कहती है कि यह आबरू ही कमजोरी है और निर्विचार अलज्जता ही आर्टका पौरुष है।

इस लँगोटी-बाँधे कीचड़-थोपे धूल-लपेटे-हुए आधुनिकताका ही एक दृष्टान्त हमने देखा है होलीके दिन कलकत्तेके चितपुर-रोडमें। उस होलीमें न अबीर था, न गुलाल, न पिचकारी और न गाना-बजाना। लम्बे-लम्बे चीथड़ोंमें सड़कका गन्दा कीच-कूड़ा लपेटकर उसे ही चिल्ला-चिल्लाकर एक दूसरेके ऊपर डाल रहे थे, और उस पागलपनको सब-कोई वसन्तोत्सव समझ रहे थे! परस्पर एक दूसरेको मलिन बनाना ही उसका लक्ष्य था, रंगीन

करना नहीं। इस अनिवार्य मलिनताकी उन्मत्तता कभी-कभी मनुष्यके मनस्तत्त्वमें पाई ही नहीं जाती, सो बात नहीं। इसलिए साइको-एनालिसिसमें इसका कार्य-विवरण बड़ी सावधानीसे विचारणीय है। किन्तु मनुष्यका रसबोध ही उत्सवकी मूल प्रेरणा है, वहाँ यदि साधारण मलिनतासे सब मनुष्योंको कलंकित करनेको ही आनन्द प्रकट करना कहा जाय, तो उस बर्बरताके मनस्तत्त्वको इस प्रसंगमें असंगत कहकर ही आपत्ति की जायगी, असत्य कहकर नहीं।

साहित्यमें रसकी होलीमें कीचड़-पोतापातीके पक्षमें बहुतोंका प्रश्न है 'क्या सत्यके अन्दर इसके लिए स्थान नहीं है?' यह प्रश्न ही अवैध है। उत्सवके दिन होलीके हुड़दंगियोंका झुण्ड जब उन्मत्तोंकी तरह ढोलक-मंजीरेके गर्जनके साथ एक ही तरहके पदकी बार-बार आवृत्ति करके पीड़ित सुरलोकपर आक्रमण करता रहता है, तब आर्त-व्यक्तिसे यह प्रश्न करना ही फिजूल है कि 'यह सत्य है या नहीं'; यथार्थ प्रश्न यह होना चाहिए कि 'यह संगीत है या नहीं?' हम मानते हैं कि मत्तताकी आत्म-विस्मृतिमें एक तरहका उल्लास होता है, कंठकी अथक उत्तेजनामें बड़ा-भारी एक जोर भी है, किन्तु मधुरता-हीन उस रूढ़ताको ही यदि शक्तिका लक्षण मानना पड़े, तो यह भी मानना पड़ेगा कि यह पहलवानी-धींगाधींगी भी शाबाशी देनेके योग्य है। परन्तु, ततः किम्! यह पौरुष चितपुर-रोडका हो सकता है, अमरपुरीकी साहित्य-कलाका हरगिज नहीं।

उपसंहारमें यह बात भी कह देना चाहिए कि आजकल जिस देशमें विज्ञानके अप्रतिहत प्रभावसे अलज्ज कौतूहल-वृत्ति दुःशासनकी मूर्ति धारण करके साहित्य-लक्ष्मीके वस्त्र-हरणके अधिकारका दावा कर रही है, उस देशका साहित्य कम-से-कम विज्ञानकी दुहाई देकर इस अत्याचारकी कैफियत दे सकता है; किन्तु जिस देशमें भीतर और बाहर, बुद्धि और व्यवहारमें, कहीं भी विज्ञानको प्रवेशाधिकार नहीं मिला, उस देशके साहित्यमें उधार ली-हुई नकली निर्लज्जताको किसकी दुहाई देकर दबा रखोगे? भारत-सागरके उस पार यदि प्रश्न किया जाय कि 'तुम्हारे साहित्यमें इतना ऊधम

क्यों है ?' तो उत्तर मिलेगा, "ऊधम साहित्यके हितके लिए नहीं है, बाजारके हितके लिए है। बाजारने जो घेर रक्खा है!" किन्तु भारत-सागरके इस पार जब पूछते हैं तो यही उत्तर पाते हैं, "बाजार आसपास कहीं भी नहीं है, पर ऊधम काफी है। आधुनिक साहित्यकी यही एक बहादुरी है!"

पुस्तकालयोंका मुख्य कर्तव्य

लोभ मनुष्यका एक प्रधान शत्रु है। एक बार जब मनुष्य संग्रह करना शुरू कर देता है तो वह अपने संग्रहके उद्देश्यको भूल जाता है, और उसपर संख्याका नशा सवार हो जाता है। चाहे लोहेके संदूकमें रुपये इकट्ठा करना हो और चाहे सम्प्रदायका आयतन बढ़ानेके लिए लोक-संग्रह, दोनों ही क्षेत्रोंमें संग्रहकी सनक मनुष्यके मनको बहावमें बहा ले जाती है, घाटपर लगानेका उद्देश्य उस अन्धे बहावमें अस्पष्ट हो जाता है, तब फिर इस बातकी याद ही नहीं रहती कि सत्यका सम्मान वस्तुकी नाप-तौलमें नहीं, उसकी यथार्थतामें है।

हमारे अधिकांश पुस्तकालयोंको संग्रहकी सनक सवार रहती है। उनकी बारह-आने पुस्तकें अकसर काममें नहीं आतीं, और काम आने-लायक बाकी चार-आने पुस्तकोंको वे कोनेमें ठूंसकर छिपा देते हैं। जिसके पास बहुत रुपया है, हमारे देशमें उसे बड़ा-आदमी कहते हैं, इसका तो मतलब यह हुआ कि मनुष्यत्वके आदर्शका आधार सम्पत्ति है, न कि उद्देश्य। लगभग इसी एक ही कारणसे बड़े पुस्तकालयका गर्व बहुत-कुछ पुस्तकोंकी संख्यापर है। उन ग्रन्थोंका गौरव तो उनके व्यवहारमें आनेपर ही निर्भर है, किन्तु अहंकारकी तृप्तिके लिए वह आवश्यक नहीं समझा जाता। हम अपनी सभामें किसी करोड़पतिके आनेपर आसन छोड़कर उनका सम्मान करते हैं। आश्चर्य है कि इस सम्मान-दानके लिए हम धनीकी दानशीलता और उदारताकी जरूरत नहीं समझते, इसके लिए उसका संचय ही काफी समझा जाता है!

हमारी भाषामें जितने भी शब्द हैं ;उनके दो तरहके आधार हैं, एक अभिधान या कोश और दूसरा साहित्य। हिसाब लगाया जाय तो हम देखेंगे कि किसी बड़े शब्दकोशमें जितने शब्द इकट्ठे किये गये हैं, उनमेंसे अधिकांश शब्दोंका व्यवहार कभी-कदा ही होता है। फिर भी उनका संग्रह किया जाना जरूरी है। लेकिन साहित्यमें व्यवहृत शब्द सजीव होते हैं, उसका हरएक शब्द अपरिहार्य है। उसके बिना काम ही नहीं चल सकता। यह बात माननी ही पड़ेगी कि कोशके शब्दोंकी अपेक्षा साहित्यके शब्दोंकी कीमत कहीं ज्यादा है।

पुस्तकालयोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। पुस्तकालय जितने अंशमें मुख्यरूपसे संग्रह करता है उतने अंशमें उसकी उपयोगियता है, लेकिन जिस अंशमें वह नित्य है और विचित्ररूपसे व्यवहृत होता है, उस अंशमें उसकी सार्थकता है। लाइब्रेरीको पूरी तौरसे व्यवहार-योग्य बना डालनेकी चिन्ता और परिश्रमको लाइब्रेरियन अकसर स्वीकार नहीं करना चाहते। उसका कारण यह है कि संचयकी बहुलतासे ही सर्वसाधारणके मनको प्रभावित करना आसान होता है।

पुस्तकालयको व्यवहारोपयोगी बनानेके लिए यह जरूरी है कि उसका परिचय बिलकुल स्पष्ट और सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण हो। नहीं तो उसके भीतर पैठा नहीं जा सकता। वह किसी ऐसे शहरकी तरह हो जाता है जिसमें घर-द्वार तो बहुत हों, पर आने-जानेके रास्ते नदारद।

जो खास तौरसे पुस्तकें खोजनेके लिए पुस्तकालयमें जाते-आते हैं वे अपनी गरजसे दुर्गमके भीतर ही अपने चलनेके लिए पगडंडी बना लिया करते हैं। परन्तु पुस्तकालयका भी तो अपना एक दायित्व है। वह है उसकी सम्पदाका दायित्व। क्योंकि उसके पास पुस्तकें हैं, इसलिए उन पुस्तकोंको पढ़ा देनेपर ही वह धन्य हो सकता है। उसे अक्रिय होकर खड़ा नहीं रहना चाहिए, वह चाहे तो सक्रिय पाठकोंको अनायास ही बुला सकता है। कारण, 'तन्नष्टं यन्नदीयते', जो दिया नहीं जाता वह नष्ट हो जाता है।

साधारणतः लाइब्रेरियाँ कहा करती हैं कि 'हमारे पास ग्रन्थ-सूची है, स्वयं देख लो, ढूँढ़ लो।' परन्तु उनकी तालिकामें आह्वान नहीं, परिचय

नहीं, और न उसकी तरफसे कोई आग्रह ही है। जिस पुस्तकालयमें उसके अपने आग्रहका परिचय मिलता है, वह स्वयं आगे बढ़कर पाठकोंका स्वागत करके उन्हें बुला लेता है; इसीको कहना चाहिए दानशीलता। इसीमें पुस्तकालयका बड़प्पन है; आकृतिमें नहीं, प्रकृतिमें। सिर्फ पाठक ही पुस्तकालयोंको नहीं बनाते, बल्कि पुस्तकालय पाठकोंको बनाते हैं।

इस बातको अगर याद रखा जाय तो समझना चाहिए कि पुस्तकाध्यक्ष या लाइब्रेरियनका काम बहुत बड़ा काम है। आलमारियोंमें अच्छी तरह सिलसिलेवार पुस्तकें सजाने और उनका हिसाब रखनेसे ही उसका काम पूरा नहीं होता। अर्थात् संख्या सम्हालने और विभाग बनानेका जो काम है वह सबसे बड़ा काम नहीं। पुस्तकाध्यक्षको ग्रन्थोंका ज्ञान होना चाहिए, सिर्फ भण्डारी बननेसे काम नहीं चल सकता।

परन्तु, पुस्तकालय यदि बहुत बड़ा हो तो कोई लाइब्रेरियन उसे सत्य और सम्पूर्णरूपसे काबूमें नहीं ला सकता। इसलिए, मैं समझता हूँ, बड़े-बड़े पुस्तकालय मुख्यतः भण्डार हैं, और छोटे-छोटे पुस्तकालय हैं भोजनालय, जो कि रोजमर्राके काममें आते हैं, और उनसे जीवनीशक्ति मिलती है।

छोटे पुस्तकालयसे मेरा मतलब है, उसमें सभी श्रेणीकी पुस्तकें रहेंगी, पर एकदम चुनी-हुई चोखी-चोखी पुस्तकें। विपुल-कलेवर गणनाकी वेदीपर नैवेद्य चढ़ानेके कामकी एक भी पुस्तक न रहेगी, प्रत्येक पुस्तक अपनी निजी विशिष्टता लिये-हुए ही रहेगी। पुस्तकाध्यक्ष भी होंगे यथार्थ साधक और निर्लोभी, आलमारियाँ भरनेका अहंकार उन्हें त्याग देना होगा। वहाँ भोजका आयोजन जो-कुछ भी होगा, सब आदरके साथ पाठकोंकी पत्तलोंमें परोसने लायक होगा; और पुस्तकाध्यक्षमें सिर्फ गोदाम-रक्षककी ही योग्यता नहीं बल्कि आतिथ्य-पालनकी भी योग्यता होगी।

मान लो, किसी पुस्तकालयमें अच्छे-अच्छे मासिक पत्र आते हैं, कुछ देशके और कुछ विदेशके। अगर पुस्तकालयके जाँच-विभागका कोई व्यक्ति उनमेंसे खास-खास पढ़ने लायक लेखोंको यथायोग्य श्रेणियोंमें विभक्त करके उनकी सूची बनाकर वाचनालयके द्वारके पास लटका दे, तो उनके पढ़े जानेकी

सम्भावना निश्चितरूपसे बढ़ सकती है। नहीं तो उन पत्रिकाओंका बारह-आना हिस्सा बिना-पढ़ा रह जायगा, और उससे पुस्तकालयका ढेर ही ऊँचा होगा और भार बढ़ेगा। नई पुस्तक आनेपर, बहुत थोड़े ही लाइब्रेरियन ऐसे मिलेंगे जो उससे स्वयं परिचित होकर पाठकोंको उसका संक्षिप्त परिचय देनेका तरीका अख्तियार करते हों। होना यह चाहिए कि किसी भी विषयपर अच्छी पुस्तक आते ही उसकी घोषणा हो जाया करे।

उसकी घोषणा किनके सामने होनी चाहिए? विशेष पाठकोंके सामने। प्रत्येक पुस्तकालयमें उसके अन्तरंग सदस्य-रूपमें एक विशेष पाठक-मण्डल रहना ही चाहिए। यह पाठक-मण्डल ही पुस्तकालयको प्राण देता है। पुस्तकाध्यक्ष यदि ऐसे मण्डलको बना सके और उसे आकृष्ट करके रख सके, तभी उसकी कार्यकारिता समझनी चाहिए। इस मण्डलके साथ पुस्तकालयका अन्तरंग सम्बन्ध कायम करनेमें लाइब्रेरियन मध्यस्थका काम करेगा। अर्थात् पुस्तकाध्यक्षपर सिर्फ पुस्तकोंका ही भार नहीं, बल्कि पुस्तक-पाठकोंका भी भार होना चाहिए। इस तरह दोनोंकी रक्षा करते हुए ही पुस्तकाध्यक्ष अपना कर्तव्य पालन कर सकता है और अपनी योग्यता का भी परिचय दे सकता है।

पुस्तकाध्यक्ष जिन पुस्तकोंका संग्रह कर सका है, सिर्फ उन्हींके सम्बन्धमें उसका कर्तव्य सीमित नहीं है। उसे मालूम रहना चाहिए कि खास-खास विषयोंकी अध्ययन करने लायक कौन-कौनसी मुख्य पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं और हो रही हैं। एक बार शान्तिनिकेतन-विद्यालयमें बच्चोंके पढ़ने-योग्य पुस्तकोंकी जरूरत हुई। इस विषयमें नाना स्थानोंसे पता लगाकर मुझे पुस्तकें चुननी पड़ीं। प्रत्येक पुस्तकालयको चाहिए कि वह ऐसे काममें सहायता करे। खास-खास विषयोंमें जिन पुस्तकोंने पिछले दो सालोंमें प्रसिद्धि पाई हो, ऐसी पुस्तकोंकी सूची अगर पुस्तकालयमें तैयार रहे, तो एक अत्यावश्यक कर्तव्य पूरा हो सकता है। अगर कोई पुस्तकालय इस विषयमें अपनी ख्याति प्राप्त कर सके, तो पुस्तक-प्रकाशक भी अपनी गरजसे उनके पास अपनी पुस्तकोंकी सूची और परिचय भेज सकते हैं।

उपसंहारमें मेरा वक्तव्य यह है कि अखिल-भारत पुस्तकालय-परिषदकी तरफसे ऐसी एक तिमाही छमाही या वार्षिक पत्रिका निकलनी चाहिए, जिसमें और-नहीं-तो कम-से-कम अंग्रेजी भाषामें* विज्ञान इतिहास साहित्य आदि विषयोंकी जितनी भी अच्छी-अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुआ करें, उन सबका यथासम्भव विवरण प्रकाशित हुआ करे।

देश-भरमें सर्वत्र पुस्तकालय स्थापित करनेके लिए प्रोत्साहन देना हो तो उनके संयोजकोंको यह भी बता देना चाहिए कि उन पुस्तकालयोंमें कौन-कौन से ग्रन्थ संग्रह करने चाहिए; और इस काममें हर तरहसे सहायता पहुँचाना उक्त परिषदका कर्तव्य होना चाहिए।

इस निबन्धमें मैंने जो बात कहनी चाही है, संक्षेपमें वह यह है कि पुस्तकालयोंका मुख्य कर्तव्य है पुस्तकोंके साथ पाठकोंका सचेष्ट भावसे परिचय करा देना, पुस्तकोंका संग्रह और उनकी रक्षा उनका गौण कार्य है।

मुक्तिकी दीक्षा

आज आश्रमके उत्सवका दिन है। आज हमें विषदरूपसे यह जान लेना चाहिए कि हमारे आश्रमका भीतरी तत्त्व क्या है। जिन महात्माने इस आश्रमकी नींव डाली थी, आजका दिन उनकी दीक्षाकी यादगारका दिन है। आजका यह उत्सव उनके जन्म-दिन या मरण-दिनका उत्सव नहीं है। उनके दीक्षा-दिवसका उत्सव है। उनकी इस दीक्षाकी बात ही इस आश्रमकी भीतरकी बात है।

सभी जानते हैं कि किसी समय जब कि वे जवान थे और ऐश्वर्यके विलासमें दिन बिता रहे थे, तब सहसा उनकी दादीकी मृत्यु हुई और उससे

* यही बात राष्ट्रभाषा हिन्दीके विषयमें भी कही जा सकती है। ऐसा होनेसे हिन्दीवालोंको शुद्ध मानसिक भोजन आसानीसे पहुँचाया जा सकता है, और इस तरह पाठकोंकी रुचि भी अच्छी दिशामें मोड़ी जा सकती है।

उनके अन्तःकरणको अत्यन्त वेदना पहुँची। उस वेदनाकी चोटसे उनके चारों तरफसे आवरण हट गया। और उससे, जिस सत्यके लिए उनका हृदय-मन लालायित हो उठा, वह उन्हें कहाँसे मिले, कैसे मिले, यह सोचते हुए वे व्याकुल हो उठे।

जब तक आदमी अपने चारों तरफके अभ्यास-आदतों और हमेशासे चली-आई प्रथाओंके घेरेमें खूब आरामसे रहता है, जब तक उसके अपने भीतरका सत्य उसकी अन्तरात्मामें जाग्रत नहीं होता तब तक पराधीनताके दुःखका उसे भान या ज्ञान कुछ भी नहीं होता। जैसे, जब हम सोते रहते हैं तब छोटेसे पिंजड़ेमें पड़े रहनेपर भी हमें दुःख नहीं होता, पर जग जानेके बाद फिर हम उस पिंजड़ेमें नहीं रह सकते ; तब तंग जगहमें हमारी गुजर नहीं होती। धन और मानमें जब हम घिरे रहते हैं तब हमें किसी बातकी कमी नहीं मालूम होती। 'दुनियामें हम बड़े आराममें हैं' - यह समझकर निश्चिन्त रहते हैं। सिर्फ धन-मान ही क्यों, पीढ़ियोंसे जो-कुछ विधि-व्यवस्था और आचार-विचार चले आ रहे हैं उसीमें निमग्न रहनेसे ऐसा लगता है कि बड़े मजेमें हैं, अब नई चिन्ता और चेष्टा करनेकी कोई जरूरत नहीं। मगर एक बार अगर हमारे अन्दर यथार्थ सत्यकी प्यास जाग उठे, तो हम देखेंगे कि यह दुनिया ही आदमीकी आखिरी जगह नहीं है।

हम मिट्टीमें पैदा होकर मिट्टीमें ही समा जायेंगे, ऐसा नहीं है। जीवन-मरणसे बहुत बड़ी चीज है हमारी आत्मा। वह आत्मा जब उद्‌बुद्ध हो उठती है, आदमी जब अपनेको पहचानने लगता है, तब कहता है, 'क्या करूंगा मैं हमेशासे चले-आये इन अभ्यास और आचारोंको लेकर, ये तो मेरे नहीं हैं। माना कि इसमें आराम है, इसमें कोई चिन्ता-फिकर नहीं, इसीसे दुनियाका काम चला जा रहा है ; लेकिन फिर भी ये मेरे नहीं हैं।' संसारके पन्द्रह-आने आदमी जैसे धन-मानके घेरेमें रहकर सन्तुष्ट हैं, वैसे ही जो-कुछ आचार-विचार चला आ रहा है उसमें भी वे आरामसे रह रहे हैं। पर, एक बार अगर किसी गहरी चोटसे यह ढक्कन उसका टूट-फूट जाय तो उसी वक्त वह समझ जायगा कि यह कैसा कारागार है! ऐसी कैद कि

जिसे कोई आसानीसे समझ ही न सके ! यह आवरण तो आश्रय नहीं है ।

संसारमें कोई-कोई आदमी ऐसे आते हैं जिन्हें कोई भी ढक्कन ढकके नहीं रख सकता । और, उन्हींके जीवनमें बड़ी-बड़ी चोटें पड़ती हैं ढक्कनको तोड़-फोड़कर अलग करनेके लिए ; और तब, दुनिया जिसे अभ्यस्त आराम समझकर निश्चिन्त पड़ी है उसे वे 'कारागार' घोषित करते हैं । आज जिनकी बात कहा रहा हूं उनके जीवनमें ऐसी ही घटना घटी थी । उनके परिवारमें धन-मानकी कमी नहीं थी और हमेशासे चली-आई प्रथा ही वहाँ चालू थी । किन्तु एक ही क्षणमें मृत्युके आघातसे ज्यों ही वे जागे त्यों ही समझ गये कि इसमें शान्ति नहीं है । उन्होंने कहा, 'अपने पिताको मैं जानना चाहता हूं । और-सबोंकी तरह उन्हें नहीं जानना चाहता, और न जान ही सकता हूँ ।' सत्यको अपने जीवनमें उन्होंने प्रत्यक्षरूपसे जानना चाहा था । औरोंके मुंहसे सुनकर, शास्त्रोंके वाक्य जानकर, आचार-विचारसे जाननेके उद्यमको उन्होंने छोड़ दिया था । और तब-कहीं उनका उद्बोधन हुआ, सत्यकी खोजका उद्बोधन । प्रथम-यौवनके प्रारम्भमें उन्होंने दीक्षा ग्रहण की, मुक्तिकी दीक्षा । जिस दिन चिड़ियाके बच्चेके पंख निकलते हैं उसी दिनसे उसकी मा उसे उड़ाना सिखाती है । इसी तरह, उसीको दीक्षाकी जरूरत है जिसे मुक्तिकी जरूरत है । चारों तरफके आवरणसे उन्होंने अपनी मुक्ति चाही थी ।

उनसे मुक्तिकी दीक्षा लेनेके लिए ही हम आश्रममें आये हैं । परमात्माके साथ हमारी आत्माका जो स्वाधीन मुक्त सम्बन्ध है उसकी हम यहाँ उपलब्धि करेंगे, अनुभूतिसे उसे समझेंगे और अपनायेंगे । जितने भी काल्पनिक और कृत्रिम व्यवधान उनके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं होने देते उनसे हमें मुक्त होना पड़ेगा । जो कारागार है उसकी हरएक छड़ (सीखचा) अगर सोनेकी भी हो, तो भी वह कारागार ही है । उसमें और-चाहे जो भी हो, मुक्ति हरगिज नहीं ।

इसीसे मेरा कहना है : यह आश्रम है, यहाँ कोई दल नहीं, कोई

सम्प्रदाय नहीं। मानस-सरोवरमें जैसे कमल खिलता है उसी तरह यहाँके आकाशके नीचे यह आश्रम जाग उठा है ; इसे किसी सम्प्रदायका हरगिज नहीं कहा जा सकता। सत्यको पाकर हम तो किसी नामको नहीं पाते। कितनी ही बार कितने ही महापुरुष आये हैं ; और उन सबने आदमीको कृत्रिम संस्कारोंके बन्धनसे छुटकारा देनेकी ही कोशिश की है। किन्तु हम ऐसे हैं कि उनकी बातको सुनी-अनसुनी करके पुराने बन्धनोंमें ही फँसते जाते हैं और सम्प्रदायोंकी ही सृष्टि करते जाते हैं। जिस सत्यकी चोटसे हम जेलकी दीवारें तोड़ते हैं, उसीसे, उसका नया नाम रखकर, फिर हम दीवार खड़ी कर लेते हैं, और उस नामकी पूजा शुरू कर देते हैं। कहते हैं, 'जो आदमी हमारे खास सम्प्रदायके और खास समाजके हैं वे ही हमारे धर्मबन्धु हैं, वे ही हमारे निजी जन हैं।' किन्तु यहाँ, इस आश्रममें, हम ऐसी बात हरगिज नहीं कह सकते। यहाँ, यहाँके पत्ती भी हमारे धर्मबन्धु हैं ; और जो संथाल बालक हमारी शुभबुद्धिको हमेशा जाग्रत रख रहे हैं वे भी हमारे धर्मबन्धु हैं। हमारे इस आश्रमसे कोई किसी तरहका 'नाम' नहीं ले जायगा। स्वास्थ्य प्राप्त होनेसे और विद्या अर्जन करनेसे जैसे आदमीका नाम नहीं बदलता उसी तरह धर्मकी प्राप्ति होनेपर नाम बदलनेकी कोई जरूरत नहीं। यहाँ हम जिस धर्मकी दीक्षा लेंगे वह मनुष्यकी दीक्षा होगी, सम्पूर्ण मनुष्यत्वकी दीक्षा।

बाहरके क्षेत्रमें महर्षि हम-सबको कौन-सी बड़ी चीज दे गये हैं? कोई सम्प्रदाय नहीं, मात्र यह आश्रम दे गये हैं। यहाँ हम नामकी पूजासे, दलकी पूजासे अपनेको बचाकर अपना आश्रय प्राप्त करेंगे ; इसीलिए तो यह आश्रम है। किसी भी देशसे, किसी भी समाजसे, कोई भी क्यों न आवे, उनके पुण्य-जीवनकी ज्योतिसे परिवेष्टित होकर, हम, सभीका इस मुक्तिके क्षेत्रमें आह्वान करेंगे। देश-देशान्तर दूर-दूरान्तरसे आनेवाले किसी भी धर्मके अनुयायी जो-कोई भी यहाँ आश्रय चाहेंगे, उन्हें हम आदर और प्रेमके साथ ग्रहण करेंगे ; इसमें संस्कारकी कोई बाधा या साम्प्रदायिक विश्वासकी संकीर्णता हमारे मनको जरा भी संकुचित न कर सकेगी।

हमारा दीक्षामन्त्र होगा 'ईशावास्यमिदं सर्वं ।' 'ईश्वरमें सबको देखो ।' सर्वत्र, सभी अवस्थामें, हम यही देखें कि ईश्वर सत्य है, सत्य ही ईश्वर है ; संसारकी समस्त विचित्र बातोंमें उन्होंने सत्यको ही प्रकट किया है । कोई भी सम्प्रदाय यह नहीं कह सकता कि उसने सत्यको अन्त तक पा लिया है । युग-युगमें सत्यका नया-नया प्रकाश फैला है । यहाँ दिन-दिन हमारा जीवन उसमें सत्य नया-नया विकाश प्राप्त करता रहेगा, यही हमारी आशा है । हम इस मुक्तिके सरोवरमें स्नान करके आनन्दित हों, समस्त साम्प्रदायिक बन्धनोंसे छुटकारा पाकर फलें-फूलें और खुश रहें, यही हमारी कामना है ।